प्रवचनसार

अनुक्रमणिका

000_index) विषयानुक्रमणिका
000_मंगलाचरण) टीकाकार (अमृतचंद्रआचार्य और जयसेनाचार्य) द्वारा मंगलाचरण

ज्ञानतत्त्व-प्रज्ञापन-अधिकार

001) तीर्थ-नायक को प्रणमन
002) पंच परमेष्ठी को नमस्कार
003) वर्तमान तीर्थंकरों को नमन
004-005) साम्य का आश्रय
006) सराग और वीतरागचारित्र में हेय-उपादेय
007) चारित्र का स्वरूप
008) आत्मा ही चारित्र है
009) जीव ही शुभ, अशुभ और शुद्ध
010) परिणाम वस्तु का स्वभाव
011) शुद्ध परिणाम के ग्रहण और शुभ परिणाम के त्याग के लिये उनका फल विचारते हैं
012) अत्यन्त हेय है ऐसे अशुभ परिणाम का फल विचारते हैं
013) शुद्धोपयोग के फल की आत्मा के प्रोत्साहन के लिये प्रशंसा करते हैं
014) शुद्धोपयोग परिणत आत्मा का स्वरूप
015) शुद्धोपयोग द्वारा तत्काल ही होनेवाली शुद्ध आत्मस्वभाव प्राप्ति की प्रशंसा
016) शुद्धात्म स्वभाव की प्राप्ति अन्य कारकों से निरपेक्ष होने से अत्यन्त आत्माधीन
017) शुद्धात्म-स्वभाव के अत्यन्त अविनाशीपना और कथंचित् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्तता
018) उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सर्व द्रव्यों के साधारण, शुद्ध आत्मा के भी
019) सर्वज्ञ को जो मानते हैं, वो सम्यग्दृष्टी
020) आत्मा के इन्द्रियों के बिना ज्ञान और आनन्द कैसे?
021) शुद्ध आत्मा के शारीरिक सुख दुःख नहीं
022) केवली भगवान के सब प्रत्यक्ष
023) भगवान को कुछ भी परोक्ष नहीं
024) आत्मा का ज्ञान प्रमाणपना और ज्ञान का सर्वगतपना
025-026) आत्मा को ज्ञान प्रमाण न मानने में दोष
027) ज्ञान की भाँति आत्मा का भी सर्वगतत्व न्याय-सिद्ध
028) आत्मा और ज्ञान के एकत्व-अन्यत्व का विचार
029) ज्ञान ज्ञेय के समीप नहीं जाता
030) ज्ञेय-पदार्थों में प्रविष्ट नहीं हुआ होने पर भी प्रविष्ट की भाँति ज्ञात होता है
031) उसी अर्थ को दृष्टान्त से दृढ़ करते हैं
032) पदार्थ ज्ञान में वर्तते हैं
033) ज्ञानी की ज्ञेय पदार्थों के साथ भिन्नता ही है
034) भाव-श्रुतज्ञान से भी आत्मा का परिज्ञान होता है
035) पदार्थों की जानकारी-रूप भावश्रुत ही ज्ञान है
036) भिन्न ज्ञान से आत्मा ज्ञानी नहीं होता
037) आत्मा ज्ञान है और शेष ज्ञेय हैं
038) भूत-भावि पर्यायें वर्तमान ज्ञान में विद्यमान--वर्तमान की भांति दिखाई देती हैं
039) भूत-भावि पर्यायों की असद्भूत--अविद्यमान संज्ञा है
040) वर्तमान ज्ञान के असद्भूत पर्यायों का प्रत्यक्षपना दृढ़ करते हैं
041) भूत-भावि सूक्ष्मादि पदार्थों को इन्द्रिय ज्ञान नहीं जानता है
042) अतीन्द्रिय ज्ञान भूत-भावि सूक्ष्मादि पदार्थों को जानता है
043) जिसके कर्मबन्ध के कारणभूत हितकारी-अहितकारी विकल्परूप से, जानने योग्य विषयों में परिणमन है, उसके क्षायिकज्ञान नहीं है
044) ज्ञान और रागादि रहित कर्म का उदय बंध का कारण नहीं है

045) केवली के रागादि का अभाव होने से धर्मोपदेशादि भी बंध के कारण नहीं हैं
046) रागादि रहित कर्मोदय तथा विहारादि क्रिया बंध का कारण नहीं है
047) केवली-भगवान की भाँति समस्त जीवों के स्वभाव विघात का अभाव होने का निषेध
048) पुन: चालु विषय का अनुसरण करके अतीन्द्रिय ज्ञान को सर्वज्ञरूप से अभिनन्दन करते हैं
049) जो सबको नहीं जानता वह एक को भी नहीं जानता
050) एक को न जानने वाला सबको नहीं जानता
051) क्रमश: प्रवर्तमान ज्ञान की सर्वगतता सिद्ध नहीं होती
052) युगपत् प्रवृत्ति के द्वारा ही ज्ञान का सर्वगतत्व
053) केवलज्ञानी के ज्ञप्तिक्रिया का सद्भाव होने पर भी उसके क्रिया के फलरूप बन्ध का निषेध
054) ज्ञान-प्रपंच व्याख्यान के बाद आधारभूत सर्वज्ञ को नमस्कार
055) ज्ञान और सुख की हेयोपादेयता
056) अतीन्द्रिय सुख का साधनभूत अतीन्द्रिय ज्ञान उपादेय है
057) इन्द्रिय-सुख का साधनभूत इन्द्रिय-ज्ञान हेय है
058) इन्द्रियाँ मात्र अपने विषयों में भी युगपत् प्रवृत्त नहीं होतीं, इसलिये इन्द्रियज्ञान हेय ही है
059) इन्द्रियज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है
060) परोक्ष और प्रत्यक्ष के लक्षण बतलाते हैं
061) प्रत्यक्ष-ज्ञान पारमार्थिक सुख-रूप
062) ऐसे अभिप्राय का खंडन करते हैं कि 'केवलज्ञान को भी परिणाम के द्वारा' खेद का सम्भव होने से केवलज्ञान ऐकान्तिक सुख नहीं है
063) 'केवलज्ञान सुखस्वरूप है' ऐसा निरूपण करते हुए उपसंहार
064) केवलज्ञानियों को ही पारमार्थिक सुख होता है
065) परोक्षज्ञान वालों के अपारमार्थिक इन्द्रिय-सुख
066) जहाँ तक इन्द्रियाँ हैं वहाँ तक स्वभाव से ही दुःख है
067) मुक्त आत्मा के सुख की प्रसिद्धि के लिये, शरीर सुख का साधन होने की बात का खंडन
068) इसी बात को दृढ़ करते हैं
069) जैसे निश्चय से शरीर सुख का साधन नहीं है, उसी प्रकार निश्चय से विषय भी सुख के करण नहीं
070) आत्मा के सुख-स्वभावता और ज्ञान-स्वभावता अन्य दृष्टान्त से दृढ़ करते हैं
071) श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव पूर्वोक्त लक्षण अनन्त-सुख के आधारभूत सर्वज्ञ को वस्तुस्तवनरूप से नमस्कार करते हैं
072) उन्हीं भगवान को सिद्धावस्था सम्बन्धी गुणों के स्तवनरूप से नमस्कार
073) इन्द्रिय-सुख स्वरूप सम्बन्धी विचारों को लेकर, उसके साधन (शुभोपयोग) का स्वरूप
074) शुभोपयोग साधन है और उनका साध्य इन्द्रियसुख है
075) इसप्रकार इन्द्रिय-सुख की बात उठाकर अब इन्द्रिय-सुख को दुखपने में डालते हैं
076) इन्द्रिय-सुख के साधनभूत पुण्य को उत्पन्न करनेवाले शुभोपयोग की, दुःख के साधनभूत पाप को उत्पन्न करनेवाले अशुभोपयोग से अविशेषता
077) शुभोपयोग-जन्य फलवाला जो पुण्य है उसे विशेषत: दूषण देने के लिये उस पुण्य को (उसके अस्तित्व को) स्वीकार करके, उसकी (पुण्य की) बात का खंडन
078) इस प्रकार स्वीकार किये गये पुण्य दु:ख के बीज (तृष्णा) के कारण हैं
079) पुण्य में दुःख के बीज की विजय घोषित करते हैं
080) पुन: पुण्य-जन्य इन्द्रिय-सुख को अनेक पकार से दुःखरूप प्रकाशित करते हैं
081) पुण्य और पाप की अविशेषता का निश्चय करते हुए उपसंहार
082) इस प्रकार शुभ और अशुभ उपयोग की अविशेषता अवधारित करके, अशेष दुःख का क्षय करने का मन में दृढ़ निश्चय करके शुद्धोपयोग में निवास
083) शुद्धोपयोग के अभाव में शुद्धात्मा को प्राप्त नहीं करता है - व्यतिरेक रूप से दृढ करते हैं
084) शुद्धोपयोग का अभाव होने पर जैसे (जिन के समान) जिन सिद्ध स्वरूप को प्राप्त नहीं करता है
085) इस प्रकार के उन निर्दोषी परमात्मा की जो श्रद्धा करते हैं - उन्हे मानते हैं - वे अक्षय सुख को प्राप्त करते हैं, एसा प्रज्ञापन करते हैं - ज्ञान कराते हैं
086) 'मैं मोह की सेना को कैसे जीतूं' - ऐसा उपाय विचारता है
087) इसप्रकार मैने चिंतामणि-रत्न प्राप्त कर लिया है तथापि प्रमाद चोर विद्यमान है, ऐसा विचार कर जागृत रहता है
088) यही एक, भगवन्तों ने स्वयं अनुभव करके प्रगट किया हुआ मोक्ष का पारमार्थिक पंथ है
090) शुद्धात्म-लाभ के परिपंथी (शत्रु) मोह का स्वभाव और उसमें प्रकारों को व्यक्त करते हैं
091) तीनों प्रकार के मोह को अनिष्ट कार्य का कारण कहकर उसका क्षय करने को सूत्र द्वारा कहते हैं
092) इस मोह-राग-द्वेष को इन चिन्हों के द्वारा पहिचान कर उत्पन्न होते ही नष्ट कर देना चाहिये
093) मोह-क्षय करने का उपायान्तर (दूसरा उपाय) विचारते हैं
094) जिनेन्द्र के शब्द ब्रह्म में अर्थों की व्यवस्था (पदार्थों की स्थिति) किस प्रकार है सो विचार करते हैं

095) इस प्रकार मोहक्षय के उपायभूत जिनेश्वर के उपदेश की प्राप्ति होने पर भी पुरुषार्थ अर्थक्रियाकारी है, इसलिये पुरुषार्थ करता है
096) स्व-पर के विवेक की सिद्धि से ही मोह का क्षय हो सकता है, इसलिये स्व-पर के विभाग की सिद्धि के लिये प्रयत्न करते हैं
097) सब प्रकार से स्व-पर के विवेक की सिद्धि आगम से करने योग्य है, ऐसा उपसंहार करते हैं
098) न्याय-पूर्वक ऐसा विचार करते हैं कि- जिनेन्द्रोक्त अर्थों के श्रद्धान बिना धर्म-लाभ (शुद्धात्म-अनुभवरूप धर्म-प्राप्ति) नहीं होता
099) दूसरी पातनिका - सम्यक्त्व के अभाव में श्रमण (मुनि) नहीं है, उस श्रमण से धर्म भी नहीं है । तो कैसे श्रमण हैं? एसा प्रश्न पूछने पर उत्तर देते हुए ज्ञानाधिकार का उपसंहार करते हैं
100) ऐसे निश्चय रत्नत्रय परिणत महान तपोधन (मुनिराज) की जो वह भक्ति करता है, उसका फल दिखाते हैं
101) उस पुण्य से दूसरे भव में क्या फल होता है, यह प्रतिपादन करते हैं

ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापन-अधिकार

102) अब सम्यक्त्व (अधिकार) कहते हैं -
103) ज्ञेयतत्त्व का प्रज्ञापन करते हैं अर्थात् ज्ञेयतत्त्व बतलाते हैं । उसमें (प्रथम) पदार्थ का सम्यक् (यथार्थ) द्रव्यगुणपर्यायस्वरूप वर्णन करते हैं
104) अनुषंगिक (पूर्व-गाथा के कथन के साथ सम्बन्ध वाली) ऐसी यह ही स्वसमय-परसमय की व्यवस्था (भेद) निश्चित (उसका) उपसंहार करते हैं
105) द्रव्य का लक्षण बतलाते हैं
106) अनुक्रम से दो प्रकार का अस्तित्व कहते हैं । स्वरूप-अस्तित्व और सादृश्य अस्तित्व । इनमें से यह स्वरूपास्तित्व का कथन है
107) यह (नीचे अनुसार) सादृश्य-अस्तित्व का कथन है
108) द्रव्यों से द्रव्यान्तर की उत्पत्ति होने का और द्रव्य से सत्ता का अर्थान्तरत्व होने का खण्डन करते हैं ।
109) अब, यह बतलाते हैं कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक होने पर भी द्रव्य सत् है
110) अब, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का परस्पर अविनाभाव दृढ़ करते हैं
111) अब, उत्पादादि का द्रव्य से अर्थान्तरत्व को नष्ट करते हैं; (अर्थात् यह सिद्ध करते हैं कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य द्रव्य से पृथक् पदार्थ नहीं हैं)
112) अब, और भी दुसरी पद्धति से द्रव्य के साथ उत्पादि के अभेद का समर्थन करते हैं और समय भेद का निराकरण करते हैं -
113) अब, द्रव्य के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य को अनेक द्रव्यपर्याय के द्वारा विचार करते हैं
114) अब, द्रव्य के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य एक द्रव्य पर्याय द्वारा विचार करते हैं
115) अब, सत्ता और द्रव्य अर्थान्तर (भिन्न पदार्थ, अन्य पदार्थ) नहीं हैं, इस सम्बन्ध में युक्ति उपस्थित करते हैं
116) अब, पृथक्त्व और अन्यत्व का लक्षण स्पष्ट करते हैं
117) अब अतद्भाव को उदाहरण पूर्वक स्पष्ट बतलाते हैं
118) अब, सर्वथा अभाव अतद्भाव का लक्षण है, इसका निषेध करते हैं
119) अब, सत्ता और द्रव्य का गुण-गुणित्व सिद्ध करते हैं
120) अब गुण और गुणी के अनेकत्व का खण्डन करते हैं
121) अब, द्रव्य के सत्-उत्पाद और असत्-उत्पाद होने में अविरोध सिद्ध करते हैं
122) अब (सर्व पर्यायों में द्रव्य अन्वय है अर्थात् वह का वही है, इसलिये उसके सत्-उत्पाद है — इसप्रकार) सत्-उत्पाद को अनन्यत्व के द्वारा निश्चित करते हैं
123) अब, असत्-उत्पाद को अन्यत्व के द्वारा निश्चित करते हैं
124) अब, एक ही द्रव्य के अनन्यपना और अन्यपना होने में जो विरोध है, उसे दूर करते हैं --
125) अब, समस्त विरोधों को दूर करने वाली सप्तभंगी प्रगट करते हैं
126) अब, जिसका निर्धारण करना है, इसलिये जिसे उदाहरणरूप बनाया गया है ऐसे जीव की मनुष्यादि पर्यायें क्रिया का फल हैं इसलिये उनका अन्यत्व (अर्थात् वे पर्यायें बदलती रहती हैं, इस प्रकार) प्रकाशित करते हैं
127) अब, यह व्यक्त करते हैं कि मनुष्यादि पर्यायें जीव को क्रिया के फल हैं
128) अब यह निर्णय करते हैं कि मनुष्यादिपर्यायों में जीव के स्वभाव का पराभव किस कारण से होता है?
129) अब, जीव की द्रव्यरूप से अवस्थितता होने पर भी पर्यायों से अनवस्थितता (अनित्यता-अस्थिरता) प्रकाशते हैं
130) अब, जीव की अनवस्थितता का हेतु प्रगट करते हैं
131) अब परिणामात्मक संसार में किस कारण से पुद्गल का संबंध होता है—कि जिससे वह (संसार) मनुष्यादि पर्यायात्मक होता है? — इसका यहाँ समाधान करते हैं
132) अब, परमार्थ से आत्मा के द्रव्यकर्म का अकर्तृत्व प्रकाशित करते हैं
133) अब, यह कहते हैं कि वह कौनसा स्वरूप है जिसरूप आत्मा परिणमित होता है?
134) अब ज्ञान, कर्म और कर्मफल का स्वरूप वर्णन करते हैं
135) अब ज्ञान, कर्म और कर्मफल को आत्मारूप से निश्चित करते हैं
136) अब, इस प्रकार ज्ञेयपने को प्राप्त आत्मा की शुद्धता के निश्चय से ज्ञानतत्त्व की सिद्धि होने पर शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि (अनुभव, प्राप्ति) होती है; इस प्रकार उसका अभिनन्दन करते हुए (अर्थात् आत्मा की शुद्धता के निर्णय की प्रशंसा करते हुए धन्यवाद देते हुए), द्रव्यसामान्य के वर्णन का उपसंहार करते हैं
137) अब, द्रव्यविशेष का प्रज्ञापन करते हैं (अर्थात् द्रव्यविशेषों को द्रव्य को भेदों को बतलाते हैं) । उसमें (प्रथम) द्रव्य के जीवाजीवपनेरूप विशेष को निश्चित करते हैं, (अर्थात् द्रव्य के जीव और अजीव-ऐसे दो भेद बतलाते हैं)
138) अब द्रव्य के लोकालोक स्वरूप-विशेष (भेद) निश्चित करते हैं

139) अब, 'क्रिया' रूप और 'भाव' रूप ऐसे जो द्रव्य के भाव हैं उनकी अपेक्षा से द्रव्य का भेद निश्चित करते हैं
140) अब, यह बतलाते हैं कि गुण विशेष से (गुणों के भेद से) द्रव्य विशेष (द्रव्यों का भेद) होता है
141) अब, मूर्त और अमूर्त गुणों के लक्षण तथा संबंध (अर्थात् उनका किन द्रव्यों के साथ संबंध है यह) कहते हैं
142) अब, मूर्त पुद्गल द्रव्य के गुण कहते हैं
143-144) अब, शेष अमूर्त द्रव्यों के गुण कहते हैं और द्रव्य का प्रदेशवत्व और अप्रदेशवत्वरूप विशेष (भेद) बतलाते हैं
145) अब, यह कहते हैं कि प्रदेशवत्त्व और अप्रदेशवत्त्व किस प्रकार से संभव है
146) अब उसी अर्थ को दृढ करते हैं
147) अब, यह बतलाते हैं की प्रदेशी और अप्रदेशी द्रव्य कहाँ रहते हैं
148) अब, यह कहते हैं की प्रदेशवतत्त्व और अप्रदेशवतत्त्व किस प्रकार से संभव है
149) अब, 'कालाणु अप्रदेशी ही है' ऐसा नियम करते हैं (अर्थात दर्शाते हैं)
150) अब काल-पदार्थ के द्रव्य और पर्याय को बतलाते हैं
151) अब, आकाश के प्रदेश का लक्षण सूत्र द्वारा कहते हैं
152) अब, तिर्यकप्रचय तथा ऊर्ध्वप्रचय बतलाते हैं
153) अब, कालपदार्थ का ऊर्ध्वप्रचय निरन्वय है, इस बात का खंडन करते हैं
154) अब, (जैसे एक वृत्यंश में कालपदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला सिद्ध किया है उसी प्रकार) सर्व वृत्यंशों में कालपदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला है यह सिद्ध करते हैं
155) अब, कालपदार्थ के अस्तित्व अन्यथा अनुपपत्ति होने से (अन्य प्रकार से) नहीं बन सकता; इसलिये उसका प्रदेशमात्रपना सिद्ध करते हैं
156) अब, इस प्रकार ज्ञेयतत्त्व कहकर, ज्ञान और ज्ञेय के विभाग द्वारा आत्मा को निश्चित करते हुए, आत्मा को अत्यन्त विभक्त (भिन्न) करने के लिये व्यवहारजीवत्व के हेतु का विचार करते हैं
157) अब, प्राण कौन-कौन से हैं, सो बतलाते हैं
158) अब, वे ही प्राण भेद-नय से दस प्रकार के होते हैं, ऐसा आवेदन करते हैं (मर्यादा पूर्वक ज्ञान कराते हैं) --
159) अब, व्युत्पत्ति से प्राणों को जीवत्व का हेतुपना और उनका पौद्गलिकपना सूत्र द्वारा कहते हैं
160) अब, प्राणों का पौद्गलिकपना सिद्ध करते हैं
161) अब, प्राणों के पौद्गलिक कर्म का कारणत्व प्रगट करते हैं
162) अब पौद्गलिक प्राणों की संतति की (प्रवाह-परम्परा) की प्रवृत्ति का अन्तरंग हेतु सूत्र द्वारा कहते हैं
163) अब पौद्गलिक प्राणों की संतति की निवृत्ति का अन्तरङ्ग हेतु समझाते है
164) अब फिर भी, आत्मा की अत्यन्त विभक्तता सिद्ध करने के लिये, व्यवहार जीवत्व के हेतु ऐसी जो गतिविशिष्ट (देव-मनुष्यादि) पर्यायों का स्वरूप कहते हैं
165) अब पर्याय के भेद बतलाते हैं
166) अब, आत्मा का अन्य द्रव्य के साथ संयुक्तपना होने पर भी अर्थ निश्रायक अस्तित्व को स्व-पर विभाग के हेतु के रूप में समझाते हैं
167) अब, आत्मा को अत्यन्त विभक्त करने के लिये परद्रव्य के संयोग के कारण का स्वरूप कहते हैं
168) अब कहते हैं कि इनमें कौनसा उपयोग परद्रव्य के संयोग का कारण है
169) अब शुभोपयोग का स्वरूप कहते हैं
170) अब अशुभोपयोग का स्वरूप कहते हैं
171) अब, परद्रव्य के संयोग का जो कारण (अशुद्धोपयोग) उसके विनाश का अभ्यास बतलाते हैं
172) अब शरीरादि परद्रव्य के प्रति भी मध्यस्थपना प्रगट करते हैं
173) अब, शरीर, वाणी और मन का परद्रव्यपना निश्चित करते हैं
174) अब आत्मा के परद्रव्यत्व का अभाव और परद्रव्य के कर्तृत्व का अभाव सिद्ध करते हैं
175) अब इस संदेह को दूर करते हैं कि 'परमाणुद्रव्यों को पिण्डपर्यायरूप परिणति कैसे होती है?'
176) अब यह बतलाते हैं कि परमाणु के वह स्निग्ध-रूक्षत्व किस प्रकार का होता है
177) अब यह बतलाते हैं कि कैसे स्निग्धत्व-रूक्षत्व से पिण्डपना होता है
178) अब यह निश्चित करते हैं कि परमाणुओं के पिण्डत्व में यथोक्त (उपरोक्त) हेतु है
179) अब, आत्मा के पुद्गलों के पिण्ड के कर्तृत्व का अभाव निश्चित करते हैं
180) अब ऐसा निश्चित करते हैं कि आत्मा पुद्गलपिण्ड का लानेवाला नहीं है
181) अब ऐसा निश्चित करते हैं कि आत्मा पुद्गलपिण्डों को कर्मरूप नहीं करता
182) अब आत्मा के कर्मरूप परिणत पुद्गलद्रव्यात्मक शरीर के कर्तत्व का अभाव निश्चित करते हैं (अर्थात् यह निश्चित करते हैं कि कर्मरूपपरिणतपुद्गलद्रव्यस्वरूप शरीर का कर्ता आत्मा नहीं है)
183) अब आत्मा के शरीरपने का अभाव निश्चित करते हैं
184) तब फिर जीव का, शरीरादि सर्वपरद्रव्यों से विभाग का साधनभूत, असाधारण स्वलक्षण क्या है, सो कहते हैं
185) अब, अमूर्त ऐसे आत्मा के, स्निग्धरूक्षत्व का अभाव होने से बंध कैसे हो सकता है ? ऐसा पूर्व पक्ष उपस्थित करते हैं
186) अब ऐसा सिद्धान्त निश्चित करते हैं कि आत्मा अमूर्त होने पर भी उसको इस प्रकार बंध होता है
187) अब भावबंध का स्वरूप बतलाते हैं
188) भावबंध की युक्ति और द्रव्यबन्ध का स्वरूप

189) अब पुद्गलबंध, जीवबंध और उन दोनों के बंध का स्वरूप कहते हैं
190) अब, ऐसा बतलाते हैं कि द्रव्यबंध का हेतु भावबंध है
191) अब, यह सिद्ध करते हैं कि—राग परिणाममात्र जो भावबंध है सो द्रव्यबन्ध का हेतु होने से वही निश्चयबन्ध है
192) अब, परिणाम का द्रव्यबन्ध के साधकतम राग से विशिष्टपना सविशेष प्रगट करते हैं (अर्थात् परिणाम द्रव्यबंध के उत्कृष्ट हेतुभूत राग से विशेषता वाला होता है ऐसा भेद सहित प्रगट करते हैं)
193) अब विशिष्ट परिणाम के भेद को तथा अविशिष्ट परिणाम को, कारण में कार्य का उपचार कार्यरूप से बतलाते हैं
194) अब, जीव की स्वद्रव्य में प्रवृत्ति और परद्रव्य से निवृत्ति की सिद्धि के लिये स्व-पर का विभाग बतलाते हैं
195) अब, यह निश्चित करते हैं कि—जीव को स्वद्रव्य में प्रवृत्ति का निमित्त स्व-पर के विभाग का ज्ञान है, और परद्रव्य में प्रवृत्ति का निमित्त स्व-पर के विभाग का अज्ञान है
196) अब, आत्मा का निश्चय से रागादि स्व-परिणाम ही कर्म है और द्रव्य-कर्म उसका कर्म नहीं है, ऐसा प्रारूपित करते हैं -- कथन करते हैं -
197) अब, पुद्गलपरिणाम आत्मा का कर्म क्यों नहीं है—ऐसे सन्देह को दूर करते हैं
198) पुद्गल-परिणाम आत्मा का कर्म नहीं
199) पुद्गल कर्मों की विचित्रता को कौन करता है?
200) अब, पहले (१९९वीं गाथा में) कही गई प्रकृतियों के, जघन्य अनुभाग और उत्कृष्ट अनुभाग का स्वरूप प्रतिपादित करते हैं
201) अकेला ही आत्मा बंध है
202) निश्चय और व्यवहार का अविरोध
203) अशुद्धनय से अशुद्ध आत्मा की ही प्राप्ति
204) शुद्धनय से शुद्धात्मा की ही प्राप्ति
205) शुद्धात्मा ही उपलब्ध करने योग्य क्यों?
206) दूसरा कुछ भी उपलब्ध करने योग्य क्यों नहीं?
207) शुद्धात्मा की उपलब्धि से क्या होता है?
208) मोहग्रंथि टूटने से क्या होता है?
209) ध्यान आत्मा में अशुद्धता नहीं लाता
210) सकलज्ञानी क्या ध्याते हैं?
211) सकलज्ञानी परम सौख्य का ध्यान करता है
212) शुद्ध आत्मा की उपलब्धि मोक्ष का मार्ग
213) मैं (आचार्यदेव) स्वयं भी शुद्धात्मप्रवृत्ति करता हूँ
214) मध्य-मंगल

चरणानुयोग-चूलिका-अधिकार

215) श्रमणार्थी की भावना
216) श्रमणार्थी पहले क्या-क्या करता है?
217) दीक्षार्थी भव्य जैनाचार्य का आश्रय लेता है
218) गुरु द्वारा स्वीकृत श्रमणार्थी की अवस्था कैसी?
219-220) श्रमण-लिंग का स्वरूप
221) अब इन दोनों लिंगों को ग्रहणकर पहले भावि नैगमनय से कहे गये पंचाचार के स्वरूप को अब स्वीकार कर उसके आधार से उपस्थित स्वस्थ-स्वरूप लीन होकर वह श्रमण होता है ऐसा प्रसिद्ध करते हैं -
222-223) अब, जब विकल्प रहित सामायिक संयम से च्युत होता है, तब विकल्प सहित छेदोपस्थापन चारित्र को स्वीकार करता है, ऐसा कथन करते हैं -
224) अब इन मुनिराज के दीक्षा देनेवाले गुरु के समाननिर्यापक नामक दूसरे भी गुरु हैं इसप्रकार गुरु व्यवस्था का निरूपण करते हैं -
225-226) अब पहले (२२४ वीं) गाथा में कहे गये दोनो प्रकार के छेदक का प्रायश्चित्त विधान कहते हैं -
227) अब विकार रहित श्रामण्य में छेद को उत्पन्न करनेवाले पर द्रव्यों के सम्बन्ध का निषेध करते हैं -
228) अब श्रमणता की परिपूर्ण कारणता होने से अपने शुद्धात्मद्रव्य में हमेशा स्थिति करना चाहिये, ऐसा प्रसिद्ध करते हैं-
229) अब, श्रमणता के छेद की कारणता होने से प्रासुक आहार आदि में भी ममत्व का निषेध करते हैं -
230) अब शुद्धोपयोगरूप भावना को रोकनेवाले छेद को कहते हैं -
231) अब अन्तरंग-बहिरंग हिंसारूप से दो प्रकार के छेद को प्रसिद्ध करते हैं
232-233) अब उसी अर्थ को दृष्टान्त और दार्ष्टान्त द्वारा दृढ़ करते हैं -
234) अब, निश्चय हिंसारूप अन्तरंग छेद, पूर्णरूप से निषेध करने योग्य है; ऐसा उपदेश देते हैं-
235) अब बाह्य में जीव का घात होने पर बन्ध होता है, अथवा नहीं होता है; परन्तु परिग्रह होने पर नियम से बन्ध होता है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं -
236) निरपेक्ष त्याग से ही कर्मक्षय
237-238-239) परिग्रह त्याग
240) सपरिग्रह के नियम से चित्त-शुद्धि नष्ट

241) अपवाद-संयम
242) उपकरण का स्वरूप
243) उपकरण अशक्य अनुष्ठान हैं
244) स्त्री पर्याय से मुक्ति का निराकरण
253) दीक्षाग्रहण में वर्ण व्यवस्था
254) निश्चयनय का अभिप्राय
255) उपकरण रूप अपवाद व्याख्यान का विशेष
256) युक्त आहार-विहार
257) प्रमाद
258) युक्ताहार-विहार
260) युक्ताहारत्व का विस्तार
261-262) मांस के दोष
263) हाथ में आया हुआ प्रासुक आहार भी देय नहीं
264) सापेक्ष उत्सर्ग और अपवाद से चारित्र की रक्षा
265) उत्सर्ग और अपवाद में विरोध से असंयम
266) आगम के परिज्ञान से ही एकाग्रता
267) आगम के परिज्ञान से हीन के कर्मों का क्षय नहीं
268) अब मोक्षमार्ग चाहने वालों को आगम ही दृष्टि-आँख है, ऐसा प्रसिद्ध करते हैं -
269) अब, आगमरूपी नेत्र से सभी दिखाई देता है, ऐसा विशेषरूप से ज्ञान कराते हैं -
270) दर्शन-रहित के संयतपना नहीं
271) अब आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान, संयतत्व की युगपतता का अभाव होने पर मोक्ष नहीं है, ऐसी व्यवस्था बताते हैं -
272) आत्मज्ञानी ही मोक्षमार्गी
273) अब पहले (२७२ वीं) गाथा में कहे गये आत्मज्ञान से रहित जीव के, सम्पूर्ण आगम का ज्ञान, तत्त्वार्थ-श्रद्धान और संयतत्व की युगपतता भी अकिंचित्कर है, ऐसा उपदेश देते है -
274) अब, द्रव्य-भाव संयम का स्वरूप कहते हैं -
275) आत्मज्ञानी संयत
276) आत्मज्ञानी संयत का लक्षण
277) युगपत आत्मज्ञान और संयत ही मोक्षमार्ग
278) एकाग्रता के अभाव से मोक्ष का अभाव
279) अब, जो वे अपने शुद्धात्मा में एकाग्र हैं उनका ही मोक्ष होता है; ऐसा उपदेश देते हैं -
280) लौकिक संसर्ग का निषेध
281) लौकिक का लक्षण
282) उत्तम संसर्ग का उपदेश
283) लौकिक संसर्ग कथंचित् अनिषिद्ध
284) शुभोपयोग मुनियों के गौण और श्रावकों को मुख्य
285) शुभोपयोगियों की श्रमणरूप में गौणता
286) शुभोपयोगी श्रमण
287) प्रवृत्ति शुभोपयोगियो के ही है
289) वैयावृत्ति संयम की विराधना-रहित होकर करें
290) प्रवृत्ति में विशेषता
291) अनुकम्पा का लक्षण
292) प्रवृत्ति का काल
293) पात्र-विशेष से वही शुभोपयोग में फल-विशेषता
294) कारण-विपरीतता से फल-विपरीतता
297) पात्रभूत मुनि का लक्षण
299) सामान्य विनय तथा उसके बाद विशेष विनय व्यवहार
301) श्रमणभासों के प्रति समस्त प्रवृत्तियों का निषेध
302) शुभोपयोगियों की शुभप्रवृत्ति
303) श्रमणाभास
304) मोक्षमार्गी पर दोष लगाने में दोष
305) अधिक गुणवा्लों से विनय चाहने से गुणों का विनाश
306) हीन गुणवालों के साथ वर्तने से गुणों का विनाश
307) संसार-स्वरूप

308) मोक्ष का स्वरूप
309) मोक्ष का कारण
310) मोक्षमार्ग
311) शास्त्र का फल और समाप्ति

परिशिष्ट

312) परिशिष्ट

!! श्रीसर्वज्ञवीतरागाय नम: !!

श्रीमद्-भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव-प्रणीत

श्री

प्रवचनसार

मूल प्राकृत गाथा, श्री अमृतचंद्राचार्य विरचित 'तत्त्वदीपिका' नामक संस्कृत टीका का हिंदी अनुवाद, श्री जयसेनाचार्य विरचित 'तात्पर्य-वृत्ति' नामक संस्कृत टीका का हिंदी अनुवाद सहित

आभार : पं जयचंदजी छाबडा, पं हुकमचंद भारिल्ल

!! नम: श्रीसर्वज्ञवीतरागाय !!

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नम: ॥1॥
अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलकलंका
मुनिभिरूपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥2॥
अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नम: ॥3॥

अर्थ : बिन्दुसहित ॐकार को योगीजन सर्वदा ध्याते हैं, मनोवाँछित वस्तु को देने वाले और मोक्ष को देने वाले ॐकार को बार बार नमस्कार हो । निरंतर दिव्य-ध्वनि-रूपी मेघ-समूह संसार के समस्त पापरूपी मैल को धोनेवाली है मुनियों द्वारा उपासित भवसागर से तिरानेवाली ऐसी जिनवाणी हमारे पापों को नष्ट करो । जिसने अज्ञान-रूपी अंधेरे से अंधे हुये जीवों के नेत्र ज्ञानरूपी अंजन की सलाई से खोल दिये हैं, उस श्री गुरु को नमस्कार हो । परम गुरु को नमस्कार हो, परम्परागत आचार्य गुरु को नमस्कार हो ।

॥ श्रीपरमगुरुवे नम:, परम्पराचार्यगुरुवे नम: ॥

सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमन: प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्री-प्रवचनसार नामधेयं, अस्य मूल-ग्रन्थकर्तार: श्री-सर्वज्ञ-देवास्तदुत्तर-ग्रन्थ-कर्तार: श्री-गणधर-देवा: प्रति-गणधर-देवास्तेषां वचनानुसार-मासाद्य आचार्य श्री-कुन्द-कुन्दाचार्य-देव विरचितं ॥

(समस्त पापों का नाश करनेवाला, कल्याणों का बढ़ानेवाला, धर्म से सम्बन्ध रखनेवाला, भव्यजीवों के मन को प्रतिबुद्ध-सचेत करनेवाला यह शास्त्र प्रवचनसार नाम का है, मूल-ग्रन्थ के रचयिता सर्वज्ञ-देव हैं, उनके बाद ग्रन्थ को गूंथनेवाले गणधर-देव हैं, प्रति-गणधर देव हैं उनके वचनों के अनुसार लेकर आचार्य श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा रचित यह ग्रन्थ है । सभी श्रोता पूर्ण सावधानी पूर्वक सुनें ।)

॥ श्रोतार: सावधानतया शृणवन्तु ॥

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥
सर्वमंगलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥

आर्हत भक्ति

पण्डित-जुगल-किशोर कृत

तुम चिरंतन, मैं लघुक्षण
लक्ष वंदन, कोटी वंदन ॥
जागरण तुम, मैं सुषुप्ति, दिव्यतम आलोक हो प्रभु,
मैं तमिस्रा हूँ अमा की, क्षीण अन्तर, क्षीण तन-मन ।
लक्ष वंदन, कोटी वंदन ॥

शोध तुम, प्रतिशोध रे ! मैं, क्षुद्र-बिन्दु विराट हो तुम,
अज्ञ मैं पामर अधमतम, सर्व जग के विज्ञ हो तुम,
देव ! मैं विक्षिप्त उन्मन, लक्ष वंदन, कोटी वंदन ॥
चेतना के एक शाश्वत, मधु मंदिर उच्छ्वास ही हो
पूर्ण हो, पर अज्ञ को तो, एक लघु प्रतिभास ही हो
दिव्य कांचन, मैं अकिंचन, लक्ष वंदन, कोटी वंदन ॥
व्याधि मैं, उपचार अनुपम, नाश मैं, अविनाश हो रे !
पार तुम, मँझधार हूँ मैं, नाव मैं, पतवार हो रे !
मैं समय, तुम सार अर्हन् !, लक्ष वंदन, कोटी वंदन

विषयानुक्रमणिका

वि ष या नु क्र म णि का

अन्वयार्थ : गाथा सारिणि - ज्ञानतत्व प्रज्ञापन (सम्यग्ज्ञान) महाधिकार - १०१ गाथा

टीकाकार (अमृतचंद्रआचार्य और जयसेनाचार्य) द्वारा मंगलाचरण

सर्वव्याप्येकचिद्रूपस्वरूपाय परात्मने
स्वोपलब्धिप्रसिद्धाय ज्ञानानन्दात्मने नम: ॥1-अ॥
हेलोल्लुप्तमहामोहतमस्तोमं जयत्यद:
प्रकाशयज्जगत्तत्त्वमनेकान्तमयं मह: ॥2-अ॥
परमानन्दसुधारसपिपासितानां हिताय भव्यानाम्
क्रियते प्रकटिततत्त्वा प्रवचनसारस्य वृत्तिरियम् ॥3-अ॥
नम: परमचैतन्यस्वात्मोत्थसुख्सम्पदे
परमागमसाराय सिद्धाय परमेष्ठिने ॥1-ज॥
स्वानुभूति से जो प्रगट सर्वव्यापि चिद्रूप ।
ज्ञान और आनन्दमय नमो परात्मस्वरूप ॥१-अ॥
महामोहतम को करे क्रीड़ा में निस्तेज ।
सब जग आलोकित करे अनेकान्तमय तेज ॥२-अ॥
प्यासे परमानन्द के भव्यों के हित हेतु ।
वृत्ति प्रवचनसार की करता हूँ भवसेतु ॥३-अ॥

अन्वयार्थ : [सर्वव्याप्येकचिद्रूपस्वरूपाय] सर्वव्यापी (सबका ज्ञाता) होने पर भी एक चैतन्यरूप (भाव चैतन्य ही) जिसका स्वरूप है - (जो ज्ञेयाकार हाने पर भी ज्ञाना- कार है अथांत् सर्वज्ञता को लिये हुए आत्मज्ञ हैं) जो [स्वोपलब्धिप्रसिद्धाय] स्वानुभव प्रसिद्ध है (शुद्ध आत्मोपलब्धि से प्रसिद्ध है), और जो [ज्ञानानन्दात्मने] ज्ञानानन्दात्मक है (अतीन्द्रिय पूर्ण-ज्ञान तथा अतीन्द्रिय पूर्ण-सुख-स्वरूप हैं) ऐसे उस [परमात्मने] परमात्मा (उत्कृष्ट आत्मा) के लिये [नम:] नमस्कार हो ॥१-अ॥

[हेलोल्लुप्तमहामोहतमस्तोमं] क्रीडा मात्र में महा-मोहरूप अन्धकार समूह को नष्ट करने वाला (ज्ञान) [जगत्तत्त्वं] जगत् (लोक अलोक) के स्वरूप को [प्रकाशयत्] प्रकाशित करता है, [अद:] वह [मह:] तेज [जयति] जयवन्त है, उसके लिये नमस्कार है ॥२-अ॥

[परमानन्द-सुधारसपिपासितानां] परमानन्दरूप सुधा-रस के पिपासु (अतीन्द्रियसुखरूप अमृत के प्यासे) [भव्यानां] भव्यों के [हिताय] हित के लिये [प्रकटि ततत्त्वा] तत्त्व को प्रगट करने वाली [इयं] यह [प्रवचनसारस्य] श्री प्रवचनसार की [वृत्ति:] टीका [क्रियते] (मुझ अमृतचन्द्राचार्य द्वारा) की जाती है ॥३-अ॥

जिनकी सम्पत्ति परम अतीन्द्रिय सुख है, जो सुख परम चैतन्य-स्वरूप निजात्मा से उत्पन्न हुआ है, ऐसे परमागम के साररूप सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार हो ॥१-ज॥

तीर्थ-नायक को प्रणमन

एस सुरासुरमणुसिंदवंदिदं धोदघाइकम्ममलं ।
पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं ॥1॥
सुर असुर इन्द्र नरेन्द्र वंदित कर्ममल निर्मलकरन
वृषतीर्थ के करतार श्री वर्द्धमान जिन शत-शत नमन ॥१॥

अन्वयार्थ : [एष:] यह मैं [सुरासुरमनुष्येन्द्रवंदितं] जो *सुरेन्द्रों, *असुरेन्द्रों और *नरेन्द्रों से वन्दित हैं तथा जिन्होंने [धौतघातिकर्ममलं] घाति कर्म-मल को धो डाला है ऐसे [तीर्थं] तीर्थ-रूप और [धर्मस्य कर्तारं] धर्म के कर्ता [वर्धमानं] श्री वर्धमानस्वामी को [प्रणमामि] नमस्कार करता हूँ ॥१॥

*सुरेन्द्र = ऊर्ध्वलोक-वासी देवों के इन्द्र
*असुरेन्द्र = अधोलोक-वासी देवों के इन्द्र
*नरेन्द्र = चक्रवर्ती, मनुष्यों के अधिपति

पंच परमेष्ठी को नमस्कार

सेसे पुण तित्थयरे ससव्वसिद्धे विसुद्धसब्भावे ।
समणे य णाणदंसणचरित्ततववीरियायारे ॥2॥
अवशेष तीर्थंकर तथा सब सिद्धगण को कर नमन
मैं भक्तिपूर्वक नमूँ पंचाचारयुत सब श्रमणजन ॥२॥

अन्वयार्थ : [पुन:] और [विशुद्धसद्भावान्] विशुद्ध *सत्तावाले [शेषान् तीर्थकरान्] शेष तीर्थंकरों को [ससर्वसिद्धान्] सर्व सिद्ध-भगवन्तों के साथ ही, [च] और [ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारान्] ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार तथा वीर्याचार युक्त [श्रमणान्] *श्रमणों को नमस्कार करता हूँ ॥२॥

*सत्ता = अस्तित्व
*श्रमण = आचार्य, उपाध्याय और साधु

वर्तमान तीर्थंकरों को नमन

ते ते सव्वे समगं समगं पत्तेगमेव पत्तेगं ।
वंदामि य वट्टंते अरहंते माणुसे खेत्ते ॥3॥
उन सभी को युगपत तथा प्रत्येक को प्रत्येक को
मैं नमूँ विदमान मानस क्षेत्र के अरहंत को ॥३॥

अन्वयार्थ : [तान् तान् सर्वान्] उन उन सबको [च] तथा [मानुषे क्षेत्रे वर्तमानान्] मनुष्य क्षेत्र में विद्यमान [अर्हत:] अरहन्तों को [समकं समकं] साथ ही साथ--समुदायरूप से और [प्रत्येकं एव प्रत्येकं] प्रत्येक प्रत्येक को--व्यक्तिगत [वंदे] वन्दना करता हूँ ॥३॥

साम्य का आश्रय

किच्चा अरहंताणं सिद्धाणं तह णमो गणहराणं ।
अज्झावयवग्गाणं साहूणं चेव सव्वेसिं ॥4॥
तेसिं विसुद्धदंसणणाणपहाणासमं समासेज्ज ।
उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती ॥5॥

अरहंत सिद्धसमूह गणधरदेवयुत सब सूरिगण
अर सभी पाठक साधुगण इन सभी को करके नमन ॥४॥
परिशुद्ध दर्शनज्ञानयुत समभाव आश्रम प्राप्त कर
निर्वाणपद दातार समताभाव को धारण करूँ ॥५॥

अन्वयार्थ : [अर्हद्भय:] इस प्रकार अरहन्तों को, [सिद्धेभ्य:] सिद्धों को, [तथा गणधरेभ्य:] आचार्यों को, [अध्यापकवर्गेभ्य:] उपाध्याय-वर्ग को [च एवं] और [सर्वेभ्यः साधुभ्य:] सर्व साधुओं को [नम: कृत्वा] नमस्कार करके [तेषां] उनके [विशुद्धदर्शनज्ञानप्रधानाश्रमं] *विशुद्ध दर्शन-ज्ञान प्रधान आश्रम को [समासाद्य] प्राप्त करके [साम्यं उपसंपद्ये] मैं *साम्य को प्राप्त करता हूँ [यत:] जिससे [निर्वाण संप्राप्ति:] निर्वाण की प्राप्ति होती है ॥४-५॥

*विशुद्धदर्शनज्ञानप्रधान = विशुद्ध दर्शन और ज्ञान जिसमें प्रधान (मुख्य) हैं, ऐसे
*साम्य = समता, समभाव

सराग और वीतरागचारित्र में हेय-उपादेय

संपज्जदि णिव्वाणं देवासुरमणुयरायविहवेहिं ।
जीवस्स चरित्तादो दंसणणाणप्पहाणादो ॥6॥
निर्वाण पावैं सुर-असुर-नरराज के वैभव सहित
यदि ज्ञान-दर्शनपूर्वक चारित्र सम्यक् प्राप्त हो ॥६॥

अन्वयार्थ : [जीवस्य] जीवको [दर्शनज्ञानप्रधानात्] दर्शनज्ञानप्रधान [चारित्रात्] चारित्र से [देवासुरमनुजराजविभवै:] देवेन्द्र, असुरेन्द्र और नरेन्द्र के वैभवों के साथ [निर्वाणं] निर्वाण [संपद्यते] प्राप्त होता है ॥६॥

चारित्र का स्वरूप

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥7॥
चारित्र ही बस धर्म है वह धर्म समताभाव है
दृगमोह-क्षोभविहीन निज परिणाम समताभाव है ॥७॥

अन्वयार्थ : [चारित्रं] चारित्र [खलु] वास्तव में [धर्म:] धर्म है । [यः धर्म:] जो धर्म है [तत् साम्यम्] वह साम्य है [इति निर्दिष्टम्] ऐसा (शास्त्रों में) कहा है । [साम्यं हि] साम्य [मोहक्षोभविहीनः] मोह-क्षोभ रहित ऐसा [आत्मनः परिणाम:] आत्मा का परिणाम (भाव) है ॥७॥

आत्मा ही चारित्र है

परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मयं त्ति पण्णत्तं ।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो ॥8॥
जिसकाल में जो दरव जिस परिणाम से हो परिणमित
हो उसीमय वह धर्मपरिणत आतमा ही धर्म है ॥८॥

अन्वयार्थ : [द्रव्यं] द्रव्य जिस समय [येन] जिस भावरूप से [परिणमति] परिणमन करता है [तत्कालं] उस समय [तन्मयं] उस मय है [इति] ऐसा [प्रज्ञप्तं] (जिनेन्द्र देव ने) कहा है; [तस्मात्] इसलिये [धर्मपरिणत: आत्मा] धर्मपरिणत आत्मा को [धर्म: मन्तव्य:] धर्म समझना चाहिये ॥८॥

जीव ही शुभ, अशुभ और शुद्ध

जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो ।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो ॥9॥

स्वभाव से परिणाममय जिय अशुभ परिणत हो अशुभ
शुभभाव परिणत शुभ तथा शुधभाव परिणत शुद्ध है ॥९॥

अन्वयार्थ : [जीव:] जीव [परिणामस्वभाव:] परिणामस्वभावी होने से [यदा] जब [शुभेन वा अशुभेन] शुभ या अशुभ भावरूप [परिणमति] परिणमन करता है [शुभ: अशुभ:] तब शुभ या अशुभ (स्वयं ही) होता है, [शुद्धेन] और जब शुद्धभावरूप परिणमित होता है [तदा शुद्ध: हि भवति] तब शुद्ध होता है ॥९॥

परिणाम वस्तु का स्वभाव

णत्थि विणा परिणामं अत्थो अत्थं विणेह परिणामो ।
दव्वगुणपज्जयत्थो अत्थो अत्थित्तणिव्वत्तो ॥10॥
परिणाम बिन ना **अर्थ** है अर अर्थ बिन परिणाम ना
अस्तित्वमय यह अर्थ है बस द्रव्यगुणपर्यायमय ॥१०॥

अन्वयार्थ : [इह] इस लोक में [परिणामं विना] परिणाम के बिना [अर्थ: नास्ति] पदार्थ नहीं है, [अर्थं विना] पदार्थ के बिना [परिणाम:] परिणाम नहीं है; [अर्थ:] पदार्थ [द्रव्यगुणपर्ययस्थ:] द्रव्य-गुण-पर्याय में रहने-वाला और [अस्तित्वनिर्वृत्त:] (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-मय) अस्तित्व से बना हुआ है ॥१०॥

शुद्ध परिणाम के ग्रहण और शुभ परिणाम के त्याग के लिये उनका फल विचारते हैं

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो ।
पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो य सग्गसुहं ॥11॥
प्राप्त करते मोक्षसुख शुद्धोपयोगी आतमा
पर प्राप्त करते स्वर्गसुख हि शुभोपयोगी आतमा ॥११॥

अन्वयार्थ : [धर्मेण परिणतात्मा] धर्म से परिणमित स्वरूप वाला [आत्मा] आत्मा [यदि] यदि [शुद्धसंप्रयोगयुक्त:] शुद्ध उपयोग में युक्त हो तो [निर्वाणसुख] मोक्ष सुख को [प्राप्नोति] प्राप्त करता है [शुभोपयुक्त: च] और यदि शुभोपयोग वाला हो तो [स्वर्गसुखम्] स्वर्ग के सुख को (बन्ध को) प्राप्त करता है ॥११॥

अत्यन्त हेय है ऐसे अशुभ परिणाम का फल विचारते हैं

असुहोदएण आदा कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो ।
दुक्खसहस्सेहिं सदा अभिद्दुदो भमदि अच्चंतं ॥12॥
अशुभोपयोगी आतमा हो नारकी तिर्यग कुनर
संसार में रुलता रहे अर सहस्त्रों दुख भोगता ॥१२॥

अन्वयार्थ : [अशुभोदयेन] अशुभ उदयसे [आत्मा] आत्मा [कुनर:] कुमनुष्य [तिर्यग्] तिर्यंच [नैरयिक:] और नारकी [भूत्वा] होकर [दुःखसहस्रै:] हजारों दुःखों से [सदा अभिद्रुतः] सदा पीडित होता हुआ [अत्यंत भ्रमति] (संसारमें) अत्यन्त भ्रमण करता है ॥१२॥

शुद्धोपयोग के फल की आत्मा के प्रोत्साहन के लिये प्रशंसा करते हैं

अइसयमादसमुत्थं विसयातीदं अणोवममणंतं ।
अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुद्धवओगप्पसिद्धाणं ॥13॥
शुद्धोपयोगी जीव के है अनूपम आत्मोत्थसुख
है नंत अतिशयवंत विषयातीत अर अविछिन्न है ॥१३॥

अन्वयार्थ : [शुद्धोपयोगप्रसिद्धानां] शुद्धोपयोग से *निष्पन्न हुए आत्माओं को (केवली और सिद्धों का) [सुखं] सुख [अतिशयं] अतिशय [आत्मसमुत्थं] आत्मोत्पन्न [विषयातीतं] विषयातीत (अतीन्द्रिय) [अनौपम्यं] अनुपम [अनन्तं] अनन्त (अविनाशी) [अव्युच्छिन्नं च] और

अविच्छिन्न (अटूट) है ॥१३॥

*निष्पन्न होना = उत्पन्न होना; फलरूप होना; सिद्ध होना । (शुद्धोपयोग से निष्पन्न हुए **अर्थ**ात् (शुद्धोपयोग कारण से कार्यरूप हुए)

शुद्धोपयोग परिणत आत्मा का स्वरूप

सुविदिदपयत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो ।

समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगो त्ति ॥14॥

हो वीतरागी संयमी तपयुक्त अर सूत्रार्थ विद्

शुद्धोपयोगी श्रमण के समभाव भवसुख-दुक्ख में ॥१४॥

अन्वयार्थ : [सुविदितपदार्थसूत्र:] जिन्होंने (निज शुद्ध आत्मादि) पदार्थों को और सूत्रों को भली भाँति जान लिया है, [संयमतप:संयुत:] जो संयम और तपयुक्त हैं, [विगतराग:] जो वीतराग अर्थात् राग रहित हैं [समसुखदुःख:] और जिन्हें सुख-दुःख समान हैं, [श्रमण:] ऐसे श्रमण को (मुनिवर को) [शुद्धोपयोग: इति भणित:] 'शुद्धोपयोगी' कहा गया है ॥१४॥

शुद्धोपयोग द्वारा तत्काल ही होनेवाली शुद्ध आत्मस्वभाव प्राप्ति की प्रशंसा

उवओगविसुद्धो जो विगदावरणंतरायमोहरओ ।

भूदो सयमेवादा जादि परं णेयभूदाणं ॥15॥

शुद्धोपयोगी जीव जग में घात घातीकर्मरज

स्वयं ही सर्वज्ञ हो सब ज्ञेय को हैं जानते ॥१५॥

अन्वयार्थ : [यः] जो [उपयोगविशुद्ध:] उपयोग विशुद्ध (शुद्धोपयोगी) है [आत्मा] वह आत्मा [विगतावरणान्तरायमोहरजा:] ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय और मोहरूप रज से रहित [स्वयमेव भूत:] स्वयमेव होता हुआ [ज्ञेयभूतानां] ज्ञेयभूत पदार्थों के [पारं याति] पार को प्राप्त होता है ॥१५॥

शुद्धात्म स्वभाव की प्राप्ति अन्य कारकों से निरपेक्ष होने से अत्यन्त आत्माधीन

तह सो लद्धसहावो सव्वण्हू सव्वलोगपदिमहिदो ।

भूदो सयमेवादा हवदि सयंभु त्ति णिद्दिट्ठो ॥16॥

त्रैलोक्य अधिपति पूज्य लब्धस्वभाव अर सर्वज्ञ जिन

स्वयं ही हो गये तातैं स्वयम्भू सब जन कहें ॥१६॥

अन्वयार्थ : [तथा] इसप्रकार [सः आत्मा] वह आत्मा [लब्धस्वभाव:] स्वभाव को प्राप्त [सर्वज्ञ:] सर्वज्ञ [सर्वलोकपतिमहित:] और *सर्व (तीन) लोक के अधिपतियों से पूजित [स्वयमेव भूत:] स्वयमेव हुआ होने से [स्वयंभू: भवति] 'स्वयंभू' है [इति निर्दिष्ट:] ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है ॥१६॥

*सर्वलोक के अधिपति = तीनों लोक के स्वामी - सुरेन्द्र, असुरेन्द्र और चक्रवर्ती

शुद्धात्म-स्वभाव के अत्यन्त अविनाशीपना और कथंचित् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्तता

भंगविहूणो य भवो संभवपरिवज्जिदो विणासो हि ।

विज्जदि तस्सेव पुणो ठिदिसंभवणाससमवाओ ॥17॥

यद्यपि उत्पाद बिन व्यय व्यय बिना उत्पाद है

तथापी उत्पादव्ययथिति का सहज समवाय है ॥१७॥

अन्वयार्थ : [भङ्गविहिन: च भव:] उसके (शुद्धात्मस्वभाव को प्राप्त आत्मा के) विनाश रहित उत्पाद है, और [संभवपरिवर्जित: विनाश: हि] उत्पाद रहित विनाश है । [तस्य एव पुन:] उसके ही फिर [स्थितिसंभवनाशसमवाय: विद्यते] स्थिति, उत्पाद और विनाश का समवाय मिलाप, एकत्रपना विद्यमान है ॥१७॥

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सर्व द्रव्यों के साधारण, शुद्ध आत्मा के भी

उप्पादो य विणासो विज्जदि सव्वस्स अट्ठजादस्स ।

पज्जाएण दु केणवि अट्ठो खलु होदि सब्भूदो ॥18॥

सभी द्रव्यों में सदा ही होंय रे उत्पाद-व्यय

ध्रुव भी रहे प्रत्येक वस्तु रे किसी पर्याय से ॥१८॥

अन्वयार्थ : [उत्पाद:] किसी पर्याय से उत्पाद [विनाश: च] और किसी पर्याय से विनाश [सर्वस्य] सर्व [अर्थजातस्य] पदार्थमात्र के [विद्यते] होता है; [केन अपि पर्यायेण तु] और किसी पर्याय से [अर्थ:] पदार्थ [सद्भूत: खलु भवति] वास्तव में ध्रुव है ॥१८॥

सर्वज्ञ को जो मानते हैं, वो सम्यग्दृष्टी

तं सव्वट्ठवरिट्ठं इट्ठं अमरासुरप्पहाणेहिं ।

ये सद्दहंति जीवा तेसिं दुक्खाणि खीयंति ॥19॥

असुरेन्द्र और सुरेन्द्र को जो इष्ट सर्व वरिष्ठ हैं

उन सिद्ध के श्रद्धालुओं के सर्व कष्ट विनष्ट हों ॥१९॥

अन्वयार्थ : जो जीव सर्व पदार्थों में श्रेष्ठ, देव-असुरों में प्रधान इन्द्रों के द्वारा स्वीकृत, उन सर्वज्ञ भगवान की श्रद्धा करते हैं, उनके सभी दु:ख नष्ट हो जाते हैं ॥१९॥

आत्मा के इन्द्रियों के बिना ज्ञान और आनन्द कैसे?

पक्खीणघादिकम्मो अणंतवरवीरिओ अहियतेजो । (19)

जादो अदिंदिओ सो णाणं सोक्खं च परिणमदि ॥20॥

अतीन्द्रिय हो गये जिनके ज्ञान सुख वे स्वयंभू

जिन क्षीणघातिकर्म तेज महान उत्तम वीर्य हैं ॥२०॥

अन्वयार्थ : [प्रक्षीणघातिकर्मा] जिसके घाति-कर्म क्षय हो चुके हैं, [अतीन्द्रिय: जात:] जो अतीन्द्रिय हो गया है, [अनन्तवरवीर्य:] अनन्त जिसका उत्तम वीर्य है और [अधिकतेजा:] अधिक (उत्कृष्ट) जिसका [केवल-ज्ञान और केवल-दर्शनरूप] तेज है [सः] ऐसा वह (स्वयंभू आत्मा) [ज्ञानं सौख्यं च] ज्ञान और सुख-रूप [परिणमति] परिणमन करता है ॥१९॥

शुद्ध आत्मा के शारीरिक सुख दुःख नहीं

सोक्खं वा पुण दुक्खं केवलणाणिस्स णत्थि देहगदं । (20)

जम्हा अदिंदियत्तं जादं तम्हा दु तं णेयं ॥21॥

अतीन्द्रिय हो गये हैं जिन स्वयंभू बस इसलिए

केवली के देहगत सुख-दु:ख नहीं परमार्थ से ॥२१॥

अन्वयार्थ : [केवलज्ञानिन:] केवलज्ञानी के [देहगतं] शरीर-सम्बन्धी [सौख्यं] सुख [वा पुन: दुःखं] या दुःख [नास्ति] नहीं है, [यस्मात्] क्योंकि [अतीन्द्रियत्व जातं] अतीन्द्रियता उत्पन्न हुई है [तस्मात् तु तत् ज्ञेयम्] इसलिये ऐसा जानना चाहिये ॥२०॥

केवली भगवान के सब प्रत्यक्ष

परिणमदो खलु णाणं पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जाया । (21)

सो णेव ते विजाणदि उग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं ॥22॥

केवली भगवान के सब द्रव्य गुण-पर्याययुत

प्रत्यक्ष हैं अवग्रहादिपूर्वक वे उन्हें नहीं जानते ॥२२॥

अन्वयार्थ : [खलु] वास्तव में [ज्ञानं परिणममानस्य] ज्ञानरूपसे (केवलज्ञानरूप से) परिणमित होते हुए केवली-भगवान के [सर्वद्रव्यपर्याया:] सर्व द्रव्य-पर्यायें [प्रत्यक्षा:] प्रत्यक्ष हैं; [सः] वे [तान्] उन्हें [अवग्रहपूर्वाभि: क्रियाभि:] अवग्रहादि क्रियाओं से [नैव विजानाति] नहीं जानते ॥२१॥

भगवान को कुछ भी परोक्ष नहीं

णत्थि परोक्खं किंचि वि समंत सव्वक्खगुणसमिद्धस्स । (22)
अक्खातीदस्स सदा सयमेव हि णाणजादस्स ॥23॥
सर्वात्मगुण से सहित हैं अर जो अतीन्द्रिय हो गये
परोक्ष कुछ भी है नहीं उन केवली भगवान के ॥२३॥
अन्वयार्थ : [सदा अक्षातीतस्य] जो सदा इन्द्रियातीत हैं, [समन्तत: सर्वाक्षगुण-समृद्धस्य] जो सर्व ओर से (सर्व आत्म-प्रदेशों से) सर्व इन्द्रिय गुणों से समृद्ध हैं [स्वयमेव हि ज्ञानजातस्य] और जो स्वयमेव ज्ञानरूप हुए हैं, उन केवली भगवान को [किंचित् अपि] कुछ भी [परोक्ष नास्ति] परोक्ष नहीं है ॥२२॥

आत्मा का ज्ञान प्रमाणपना और ज्ञान का सर्वगतपना

आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं । (23)
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं ॥24॥
यह आत्म ज्ञानप्रमाण है अर ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है
हैं ज्ञेय लोकालोक इस विधि सर्वगत यह ज्ञान है ॥२४॥
अन्वयार्थ : [आत्मा] आत्मा [ज्ञानप्रमाणं] ज्ञान प्रमाण है; [ज्ञानं] ज्ञान [ज्ञेयप्रमाणं] ज्ञेय प्रमाण [उद्दिष्टं] कहा गया है । [ज्ञेयं लोकालोकं] ज्ञेय लोकालोक है [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानं तु] ज्ञान [सर्वगतं] सर्वगत-सर्व व्यापक है ॥२३॥

आत्मा को ज्ञान प्रमाण न मानने में दोष

णाणप्पमाणमादा ण हवदि जस्सेह तस्स सो आदा । (24)
हीणो वा अहिओ वा णाणादो हवदि धुवमेव ॥25॥
हीणो जदि सो आदा तण्णाणमचेदणं ण जाणादि । (25)
अहिओ वा णाणादो णाणेण विणा कहं णादि ॥26॥
अरे जिनकी मान्यता में आत्म ज्ञानप्रमाण ना
तो ज्ञान से वह हीन अथवा अधिक होना चाहिए ॥२५॥
ज्ञान से हो हीन अचेतन ज्ञान जाने किसतरह
ज्ञान से हो अधिक जिय किसतरह जाने ज्ञान बिन ॥२६॥
अन्वयार्थ : [इह] इस जगत में [यस्य] जिसके मत में [आत्मा] आत्मा [ज्ञानप्रमाणं] ज्ञानप्रमाण [न भवति] नहीं है, [तस्य] उसके मत में [सः आत्मा] वह आत्मा [ध्रुवम् एव] अवश्य [ज्ञानात् हीन: वा] ज्ञान से हीन [अधिक: वा भवति] अथवा अधिक होना चाहिये ॥२४॥
[यदि] यदि [सः आत्मा] वह आत्मा [हीन:] ज्ञान से हीन हो [तत्] तो वह [ज्ञानं] ज्ञान [अचेतनं] अचेतन होने से [न जानाति] नहीं जानेगा, [ज्ञानात् अधिक: वा] और यदि [आत्मा] ज्ञान से अधिक हो तो [वह आत्मा] [ज्ञानेन विना] ज्ञान के बिना [कथं जानाति] कैसे जानेगा? ॥२५॥

ज्ञान की भाँति आत्मा का भी सर्वगतत्व न्याय-सिद्ध

सव्वगदो जिणवसहो सव्वे वि य तग्गया जगदि अट्ठा । (26)
णाणमयादो य जिणो विसयादो तस्स ते भणिदा ॥27॥

हैं सर्वगत जिन और सर्व पदार्थ जिनवरगत कहे
जिन ज्ञानमय बस इसलिए सब ज्ञेय जिनके विषय हैं ॥२७॥

अन्वयार्थ : [जिनवृषभ:] जिनवर [सर्वगत:] सर्वगत हैं [च] और [जगति] जगत के [सर्वे अपि अर्था:] सर्व पदार्थ [तद्गता:] जिनवरगत (जिनवर में प्राप्त) हैं; [जिन: ज्ञानमयत्वात्] क्योंकि जिन ज्ञानमय हैं [च] और [ते] वे सब पदार्थ [विषयत्वात्] ज्ञान के विषय होने से [तस्य] जिन के विषय [भणिता:] कहे गये हैं ॥२६॥

आत्मा और ज्ञान के एकत्व-अन्यत्व का विचार

णाणं अप्प त्ति मदं वट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं । (27)
तम्हा णाणं अप्पा अप्पा णाणं व अण्णं वा ॥28॥
रे आतमा के बिना जग में ज्ञान हो सकता नहीं
है ज्ञान आतम किन्तु आतम ज्ञान भी है अन्य भी ॥२८॥

अन्वयार्थ : [ज्ञानं आत्मा] ज्ञान आत्मा है [इति मतं] ऐसा जिन-देव का मत है । [आत्मानं विना] आत्मा के बिना (अन्य किसी द्रव्य में) [ज्ञानं न वर्तते] ज्ञान नहीं होता, [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानं आत्मा] ज्ञान आत्मा है; [आत्मा] और आत्मा [ज्ञानं वा] (ज्ञान गुण द्वारा) ज्ञान है [अन्यत् वा] अथवा (सुखादि अन्य गुण द्वारा) अन्य है ॥२७॥

ज्ञान ज्ञेय के समीप नहीं जाता

णाणी णाणसहावो अट्ठा णेयप्पगा हि णाणिस्स । (28)
रूवाणि व चक्खूणं णेवण्णोण्णेसु वट्टंति ॥29॥
रूप को ज्यों चक्षु जाने परस्पर अप्रविष्ठ रह
त्यों आत्म ज्ञानस्वभाव अन्य पदार्थ उसके ज्ञेय हैं ॥२९॥

अन्वयार्थ : [ज्ञानी] आत्मा [ज्ञानस्वभाव:] ज्ञान स्वभाव है [अर्था: हि] और पदार्थ [ज्ञानिनः] आत्मा के [ज्ञेयात्मका:] ज्ञेय स्वरूप हैं [रूपाणि इव चक्षुषो:] जैसे कि रूप (रूपी पदार्थ) नेत्रों का ज्ञेय है वैसे [अन्योन्येषु] वे एक-दूसरे में [न एव वर्तन्ते] नहीं वर्तते ॥२८॥

ज्ञेय-पदार्थों में प्रविष्ट नहीं हुआ होने पर भी प्रविष्ट की भाँति ज्ञात होता है

ण पविट्ठो णाविट्ठो णाणी णेयेसु रूवमिव चक्खू । (29)
जाणदि पस्सदि णियदं अक्खातीदो जगमसेसं ॥30॥
प्रविष्ठ रह अप्रविष्ठ रह ज्यों चक्षु जाने रूप को
त्यों अतीन्द्रिय आत्मा भी जानता सम्पूर्ण जग ॥३०॥

अन्वयार्थ : [चक्षु: रूपं इव] जैसे चक्षु रूप को (ज्ञेयों में अप्रविष्ट रहकर तथा अप्रविष्ट न रहकर जानती-देखती है) उसी प्रकार [ज्ञानी] आत्मा [अक्षातीतः] इन्द्रियातीत होता हुआ [अशेषं जगत्] अशेष जगत को (समस्त लोकालोक को) [ज्ञेयेषु] ज्ञेयों में [न प्रविष्ट:] अप्रविष्ट रहकर [न अविष्ट:] तथा अप्रविष्ट न रहकर [नियतं] निरन्तर [जानाति पश्यति] जानता-देखता है ॥२१॥

उसी अर्थ को दृष्टान्त से दृढ़ करते हैं

रयणमिह इन्दणीलं दुद्धज्झसियं जहा सभासाए । (30)
अभिभूय तं पि दुद्धं वट्टदि तह णाणमट्ठेसु ॥31॥
ज्यों दूध में है व्याप्त नीलम रत्न अपनी प्रभा से
त्यों ज्ञान भी है व्याप्त रे निश्शेष ज्ञेय पदार्थ में ॥३१॥

अन्वयार्थ : [यथा] जैसे [इह] इस जगत में [दुग्धाध्युषितं] दूध में पड़ा हुआ [इन्द्रनीलं रत्नं] इन्द्रनील रत्न [स्वभासा] अपनी प्रभा के द्वारा [तद् अपि दुग्धं] उस दूध में [अभिभूय] व्याप्त होकर [वर्तते] वर्तता है, [तथा] उसीप्रकार [ज्ञानं] ज्ञान [अर्थेषु] पदार्थों में व्याप्त होकर

वर्तता है ॥३०॥

पदार्थ ज्ञान में वर्तते हैं

जदि ते ण संति अट्ठा णाणे णाणं ण होदि सव्वगयं । (31)
सव्वगयं वा णाणं कहं ण णाणट्ठिया अट्ठा ॥32॥
वे **अर्थ** ना हों ज्ञान में तो ज्ञान न हो सर्वगत
ज्ञान है यदि सर्वगत तो क्यों न हों वे ज्ञानगत ॥३२॥

अन्वयार्थ : [यदि] यदि [ते अर्था:] वे पदार्थ [ज्ञाने न संति] ज्ञान में न हों तो [ज्ञानं] ज्ञान [सर्वगत] सर्वगत [न भवति] नहीं हो सकता [वा] और यदि [ज्ञानं सर्वगतं] ज्ञान सर्वगत है तो [अर्था:] पदार्थ [ज्ञानस्थिता:] ज्ञानस्थित [कथं न] कैसे नहीं हैं? (अर्थात् अवश्य हैं) ॥३१॥

ज्ञानी की ज्ञेय पदार्थों के साथ भिन्नता ही है

गेण्हदि णेव ण मुंचदि ण परं परिणमदि केवली भगवं । (32)
पेच्छदि समंतदो सो जाणदि सव्वं णिरवसेसं ॥33॥
केवली भगवान पर ना ग्रहे छोड़े परिणमें
चहुं ओर से सम्पूर्णत: निरवशेष वे सब जानते ॥३३॥

अन्वयार्थ : [केवली भगवान्] केवली भगवान [परं] पर को [न एव गृह्णाति] ग्रहण नहीं करते, [न मुंचति] छोड़ते नहीं, [न परिणमति] पररूप परिणमित नहीं होते; [सः] वे [निरवशेष सर्वं] निरवशेषरूप से सबको (सम्पूर्ण आत्मा को, सर्व ज्ञेयों को) [समन्तत:] सर्व ओर से (सर्व आत्मप्रदेशों से) [पश्यति] देखते-जानते हैं ॥३२॥

भाव-श्रुतज्ञान से भी आत्मा का परिज्ञान होता है

जो हि सुदेण विजाणादि अप्पाणं जाणगं सहावेण । (33)
तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पदीवयरा ॥34॥
श्रुतज्ञान से जो जानते ज्ञायकस्वभावी आतमा
श्रुतकेवली उनको कहें ऋषिगण प्रकाशक लोक के ॥३४॥

अन्वयार्थ : [यः हि] जो वास्तव में [श्रुतेन] श्रुतज्ञान के द्वारा [स्वभावेन ज्ञायकं] स्वभाव से ज्ञायक (अर्थात् ज्ञायक-स्वभाव) [आत्मानं] आत्मा को [विजानाति] जानता है [तं] उसे [लोकप्रदीपकरा:] लोक के प्रकाशक [ऋषय:] ऋषीश्वरगण [श्रुतकेवलिन भणन्ति] श्रुतकेवली कहते हैं ॥३३॥

पदार्थों की जानकारी-रूप भावश्रुत ही ज्ञान है

सुत्तं जिणोवदिट्ठं पोग्गलदव्वप्पगेहिं वयणेहिं । (34)
तं जाणणा हि णाणं सुत्तस्स य जाणणा भणिया ॥35॥
जिनवरकथित पुद्गल वचन ही सूत्र उसकी ज्ञप्ति ही
है ज्ञान उसको केवली जिनसूत्र की ज्ञप्ति कहें ॥३५॥

अन्वयार्थ : [सूत्रं] सूत्र अर्थात् [पुद्गलद्रव्यात्मकै: वचनै:] पुद्गल-द्रव्यात्मक वचनों के द्वारा [जिनोपदिष्टं] जिनेन्द्र भगवान के द्वारा उपदिष्ट वह [तज्ज्ञप्ति: ही] उसकी ज्ञप्ति [ज्ञानं] ज्ञान है [च] और उसे [सूत्रस्य ज्ञप्ति:] सूत्र की ज्ञप्ति (श्रुतज्ञान) [भणिता] कहा गया है ॥३४॥

भिन्न ज्ञान से आत्मा ज्ञानी नहीं होता

जो जाणदि सो णाणं ण हवदि णाणेण जाणगो आदा । (35)
णाणं परिणमदि सयं अट्ठा णाणट्ठिया सव्वे ॥36॥

जो जानता सो ज्ञान आतम ज्ञान से ज्ञायक नहीं
स्वयं परिणत ज्ञान में सब **अर्थ** थिति धारण करें ॥३६॥

अन्वयार्थ : [यः जानाति] जो जानता है [सः ज्ञानं] सो ज्ञान है (अर्थात् जो ज्ञायक है वही ज्ञान है), [ज्ञानेन] ज्ञान के द्वारा [आत्मा] आत्मा [ज्ञायक: भवति] ज्ञायक है [न] ऐसा नहीं है । [स्वयं] स्वयं ही [ज्ञानं परिणमते] ज्ञान-रूप परिणमित होता है [सर्वे अर्था:] और सर्व पदार्थ [ज्ञानस्थिता:] ज्ञान-स्थित हैं ॥३५॥

आत्मा ज्ञान है और शेष ज्ञेय हैं

तम्हा णाणं जीवो णेयं दव्वं तिहा समक्खादं । (36)
दव्वं ति पुणो आदा परं च परिणामसंबद्धं ॥37॥
जीव ही है ज्ञान ज्ञेय त्रिधावर्णित द्रव्य हैं
वे द्रव्य आतम और पर परिणाम से संबद्ध हैं ॥३७॥

अन्वयार्थ : [तस्मात्] इसलिये [जीव: ज्ञानं] जीव ज्ञान है [ज्ञेयं] और ज्ञेय [त्रिधा समाख्यातं] तीन प्रकार से वर्णित (त्रिकालस्पर्शी) [द्रव्यं] द्रव्य है । [पुन: द्रव्यं इति] (वह ज्ञेयभूत) द्रव्य अर्थात् [आत्मा] आत्मा (स्वात्मा) [पर: च] और पर [परिणामसम्बद्ध] जो कि परिणाम वाले हैं ॥३६॥

भूत-भावि पर्यायें वर्तमान ज्ञान में विद्यमान--वर्तमान की भांति दिखाई देती हैं

तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं । (37)
वट्टन्ते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं ॥38॥
असद्भूत हों सद्भूत हों सब द्रव्य की पर्याय सब
सद्ज्ञान में वर्तमानवत् ही हैं सदा वर्तमान सब ॥३८॥

अन्वयार्थ : [तासाम् द्रव्यजातीनाम्] उन (जीवादि) द्रव्य-जातियों की [ते सर्वे] समस्त [सदसद्भूता: हि] विद्यमान और अविद्यमान [पर्याया:] पर्यायें [तात्कालिका: इव] तात्कालिक (वर्तमान) पर्यायों की भाँति, [विशेषत:] विशिष्टता-पूर्वक (अपने-अपने भिन्न-भिन्न स्वरूप में) [ज्ञाने वर्तन्ते] ज्ञान में वर्तती हैं ॥३७॥

भूत-भावि पर्यायों की असद्भूत--अविद्यमान संज्ञा है

जे णेव हि संजाया जे खलु णट्ठा भवीय पज्जया । (38)
ते होंति असब्भूदा पज्जाया णाणपच्चक्खा ॥39॥
पर्याय जो अनुत्पन्न हैं या नष्ट जो हो गई हैं
असद्भावी वे सभी पर्याय ज्ञानप्रत्यक्ष हैं ॥३९॥

अन्वयार्थ : [ये पर्याया:] जो पर्यायें [हि] वास्तव में [न एव संजाता:] उत्पन्न नहीं हुई हैं, तथा [ये] जो पर्यायें [खलु] वास्तव में [भूत्वा नष्टा:] उत्पन्न होकर नष्ट हो गई हैं, [ते] वे [असद्भूता: पर्याया:] अविद्यमान पर्यायें [ज्ञानप्रत्यक्षा: भवन्ति] ज्ञान प्रत्यक्ष हैं ॥३८॥

वर्तमान ज्ञान के असद्भूत पर्यायों का प्रत्यक्षपना दृढ़ करते हैं

जदि पच्चक्खमजादं पज्जयं पलयिदं च णाणस्स । (39)
ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं ति हि के परूवेंति ॥40॥
पर्याय जो अनुत्पन्न हैं या हो गई हैं नष्ट जो
फिर ज्ञान की क्या दिव्यता यदि ज्ञात होवें नहीं वो ॥४०॥

अन्वयार्थ : [यदि वा] यदि [अजात: पर्याय:] अनुत्पन्न पर्याय [च] तथा [प्रलयितः] नष्ट पर्याय [ज्ञानस्य] ज्ञान के (केवलज्ञान के) [प्रत्यक्ष: न भवति] प्रत्यक्ष न हो तो [तत् ज्ञानं] उस ज्ञान को [दिव्यं इति हि] 'दिव्य' [के प्ररूपयंति] कौन प्ररूपेगा? ॥३९॥

भूत-भावि सूक्ष्मादि पदार्थों को इन्द्रिय ज्ञान नहीं जानता है

अत्थं अक्खणिवदिदं ईहापुव्वेहिं जे विजाणंति । (40)

तेसिं परोक्खभूदं णादुमसक्कं ति पण्णत्तं ॥41॥

जो इन्द्रियगोचर **अर्थ** को ईहादिपूर्वक जानते

वे परोक्ष पदार्थ को जाने नहीं जिनवर कहें ॥४१॥

अन्वयार्थ : [ये] जो [अक्षनिपतितं] अक्षपतित अर्थात् इन्द्रिय-गोचर [अर्थं] पदार्थ को [ईहापूर्वैः] ईहादिक द्वारा [विजानन्ति] जानते हैं, [तेषां] उनके लिये [परोक्षभूतं] परोक्षभूत पदार्थ को [ज्ञातुं] जानना [अशक्यं] अशक्य है [इति प्रज्ञप्तं] ऐसा सर्वज्ञ-देव ने कहा है ॥४०॥

अतीन्द्रिय ज्ञान भूत-भावि सूक्ष्मादि पदार्थों को जानता है

अपदेसं सपदेसं मुत्तममुत्तं च पज्जयमजादं । (41)

पलयं गदं च जाणदि तं णाणमदिंदियं भणियं ॥42॥

सप्रदेशी अप्रदेशी मूर्त और अमूर्त को

अनुत्पन्न विनष्ट को जाने अतीन्द्रिय ज्ञान ही ॥४२॥

अन्वयार्थ : [अप्रदेशं] जो ज्ञान अप्रदेश को, [सप्रदेशं] सप्रदेश को, [मूर्तं] मूर्त को, [अमूर्तः च] और अमूर्त को तथा [अजातं] अनुत्पन्न [च] और [प्रलयंगतं] नष्ट [पर्यायं] पर्याय को [जानाति] जानता है, [तत् ज्ञानं] वह ज्ञान [अतीन्द्रियं] अतीन्द्रिय [भणितम्] कहा गया है ॥४१॥

जिसके कर्मबन्ध के कारणभूत हितकारी-अहितकारी विकल्परूप से, जानने योग्य विषयों में परिणमन है, उसके क्षायिकज्ञान नहीं है

परिणमदि णेयमट्ठं णादा जदि णेव खाइगं तस्स । (42)

णाणं ति तं जिणिंदा खवयंतं कम्ममेवुत्ता ॥43॥

ज्ञेयार्थमय जो परिणमे ना उसे क्षायिक ज्ञान हो

कहें जिनवरदेव कि वह कर्म का ही अनुभवी ॥४३॥

अन्वयार्थ : [ज्ञाता] ज्ञाता [यदि] यदि [ज्ञेयं अर्थं] ज्ञेय पदार्थ-रूप [परिणमति] परिणमित होता हो तो [तस्य] उसके [क्षायिकं ज्ञानं] क्षायिक ज्ञान [न एव इति] होता ही नहीं । [जिनेन्द्राः] जिनेन्द्र देवों ने [तं] उसे [कर्म एव] कर्म को ही [क्षपयन्तं] अनुभव करने वाला [उक्तवन्तः] कहा है ॥४२॥

ज्ञान और रागादि रहित कर्म का उदय बंध का कारण नहीं है

उदयगदा कम्मंसा जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया । (43)

तेसु विमूढो रत्तो दुट्ठो वा बंधमणुभवदि ॥44॥

जिनवर कहें उसके नियम से उदयगत कर्मांश हैं

वह राग-द्वेष-विमोह बस नित बंध का अनुभव करे ॥४४॥

अन्वयार्थ : [उदयगताः कर्मांशाः] (संसारी जीव के) उदय-प्राप्त कर्मांश (ज्ञानावरणीय आदि पुद्गल-कर्म के भेद) [नियत्या] नियम से [जिनवरवृषभैः] जिनवर वृषभों ने [भणिताः] कहे हैं । [तेषु] जीव उन कर्मांशों के होने पर [विमूढः रक्तः दुष्टः वा] मोही, रागी अथवा द्वेषी होता हुआ [बन्धं अनुभवति] बन्ध का अनुभव करता है ॥४३॥

केवली के रागादि का अभाव होने से धर्मोपदेशादि भी बंध के कारण नहीं हैं

ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो य णियदयो तेसिं । (44)

अरहंताणं काले मायाचारो व्व इत्थीणं ॥45॥
यत्न बिन ज्यों नारियों में सहज मायाचार त्यों
हो विहार उठना-बैठना अर दिव्यध्वनि अरिहंत के ॥४५॥
अन्वयार्थ : [तेषाम् अर्हता] उन अरहन्त भगवन्तों के [काले] उस समय [स्थाननिषद्याविहारा:] खड़े रहना, बैठना, विहार [धर्मोपदेश: च] और धर्मोपदेश- [स्त्रीणां मायाचार: इव] स्त्रियों के मायाचार की भाँति, [नियतय:] स्वाभाविक ही-प्रयत्न बिना ही- होता है ॥४४॥

रागादि रहित कर्मोदय तथा विहारादि क्रिया बंध का कारण नहीं है

पुण्णफला अरहंता तेसिं किरिया पुणो हि ओदइया । (45)
मोहादीहिं विरहिदा तम्हा सा खाइग त्ति मदा ॥46॥
पुण्यफल अरिहंत जिन की क्रिया औदयिकी कही
मोहादि विरहित इसलिए वह क्षायिकी मानी गई ॥४६॥
अन्वयार्थ : [अर्हन्तः] अरहन्त भगवान [पुण्यफला:] पुण्य-फल वाले हैं [पुन: हि] और [तेषां क्रिया] उनकी क्रिया [औदयिकी] औदयिकी है; [मोहादिभि: विरहिता] मोहादि से रहित है [तस्मात्] इसलिये [सा] वह [क्षायिकी] क्षायिकी [इति मता] मानी गई है ॥४५॥

केवली-भगवान की भाँति समस्त जीवों के स्वभाव विघात का अभाव होने का निषेध

जदि सो सुहो व असुहो ण हवदि आदा सयं सहावेण । (46)
संसारो वि ण विज्जदि सव्वेसिं जीवकायाणं ॥47॥
यदी स्वयं स्वभाव से शुभ-अशुभरूप न परिणमें
तो सर्व जीवनिकाय के संसार भी ना सिद्ध हो ॥४७॥
अन्वयार्थ : [यदि] यदि (ऐसा माना जाये कि) [सः आत्मा] आत्मा [स्वयं] स्वयं [स्वभावेन] स्वभाव से (अपने भाव से) [शुभ: वा अशुभ:] शुभ या अशुभ [न भवति] नहीं होता (शुभाशुभ भाव में परिणमित ही नहीं होता) [सर्वेषां जीवकायाना] तो समस्त जीव-निकायों के [संसार: अपि] संसार भी [न विद्यते] विद्यमान नहीं है ऐसा सिद्ध होगा ॥४६॥

पुन: चालु विषय का अनुसरण करके अतीन्द्रिय ज्ञान को सर्वज्ञरूप से अभिनन्दन करते हैं

जं तक्कालियमिदरं जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं । (47)
अत्थं विचित्तविसमं तं णाणं खाइयं भणियं ॥48॥
जो तात्कालिक अतात्कालिक विचित्र विषमपदार्थ
चहुं ओर से इक साथ जाने वही क्षायिक ज्ञान है ॥४८॥
अन्वयार्थ : [यत्] जो [युगपद्] एक ही साथ [समन्तत:] सर्वत: (सर्व आत्म-प्रदेशों से) [तात्कालिकं] तात्कालिक [इतरं] या अतात्कालिक, [विचित्रविषमं] विचित्र (अनेक पकार के) और विषम (मूर्त, अमूर्त आदि असमान जाति के) [सर्वं अर्थं] समस्त पदार्थों को [जानाति] जानता है [तत् ज्ञानं] उस ज्ञान को [क्षायिकं भणितम्] क्षायिक कहा है ॥४७॥

जो सबको नहीं जानता वह एक को भी नहीं जानता

जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तिक्कालिगे तिहुवणत्थे । (48)
णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेगं वा ॥49॥
जाने नहीं युगपद् त्रिकालिक **अर्थ** जो त्रैलोक्य के
वह जान सकता है नहीं पर्यय सहित इक द्रव्य को ॥४९॥
अन्वयार्थ : [य] जो [युगपद्] एक ही साथ [त्रैकालिकान् त्रिभुवनस्थान्] त्रैकालिक त्रिभुवनस्थ (तीनों काल के और तीनों लोक के) [अर्थान्] पदार्थों को [न विजानाति] नहीं जानता, [तस्य] उसे [सपर्ययं] पर्याय सहित [एकं द्रव्यं वा] एक द्रव्य भी [ज्ञातुं न शक्य] जानना

शक्य नहीं है ॥४८॥

एक को न जानने वाला सबको नहीं जानता

दव्वं अणंतपज्जयमेगमणंताणि दव्वजादाणि । (49)
ण विजाणदि जदि जुगवं किध सो सव्वाणि जाणादि ॥50॥
इक द्रव्य को पर्यय सहित यदि नहीं जाने जीव तो
फिर जान कैसे सकेगा इक साथ द्रव्यसमूह को ॥५०॥

अन्वयार्थ : [यदि] यदि [अनन्तपर्यायं] अनन्त पर्याय-वाले [एकं द्रव्यं] एक द्रव्य को (आत्मद्रव्य को) [अनन्तानि द्रव्यजातानि] तथा अनन्त द्रव्य-समूह को [युगपद्] एक ही साथ [न विजानाति] नहीं जानता [सः] तो वह पुरुष [सर्वाणि] सब को (अनन्त द्रव्य-समूह को) [कथं जानाति] कैसे जान सकेगा? (अर्थात् जो आत्म-द्रव्य को नहीं जानता हो वह समस्त द्रव्य-समूह को नहीं जान सकता) ॥४९॥

प्रकारांतर से **अन्वयार्थ** - [यदि] यदि [अनन्तपर्यायं] अनन्त पर्यायवाले [एकं द्रव्यं] एक द्रव्य को (आत्म-द्रव्य को) [न विजानाति] नहीं जानता [सः] तो वह पुरुष [युगपद्] एक ही साथ [सर्वाणि अनन्तानि द्रव्यजातानि] सर्व अनन्त द्रव्य-समूह को [कथं जानाति] कैसे जान सकेगा? ॥४९॥

क्रमश: प्रवर्तमान ज्ञान की सर्वगतता सिद्ध नहीं होती

उप्पज्जदि जदि णाणं कमसो अट्ठे पडुच्च णाणिस्स । (50)
तं णेव हवदि णिच्चं ण खाइगं णेव सव्वगदं ॥51॥
पदार्थ का अवलम्ब ले जो ज्ञान क्रमश: जानता
वह सर्वगत अर नित्य क्षायिक कभी हो सकता नहीं ॥५१॥

अन्वयार्थ : [यदि] यदि [ज्ञानिनः ज्ञानं] आत्मा का ज्ञान [क्रमशः] क्रमश: [अर्थान् प्रतीत्य] पदार्थों का अवलम्बन लेकर [उत्पद्यते] उत्पन्न होता हो [तत्] तो वह (ज्ञान) [न एव नित्यं भवति] नित्य नहीं है, [न क्षायिकं] क्षायिक नहीं है, [न एव सर्वगतम्] और सर्वगत नहीं है ॥ ५०॥

युगपत् प्रवृत्ति के द्वारा ही ज्ञान का सर्वगतत्व

तिक्कालणिच्चविसमं सयलं सव्वत्थसंभवं चित्तं । (51)
जुगवं जाणदि जोण्हं अहो हि णाणस्स माहप्पं ॥52॥
सर्वज्ञ जिन के ज्ञान का माहात्म्य तीनों काल के
जाने सदा सब **अर्थ** युगपद् विषम विविध प्रकार के ॥५२॥

अन्वयार्थ : [त्रैकाल्यनित्यविषमं] तीनों काल में सदा विषम (असमान जाति के), [सर्वत्र संभवं] सर्व क्षेत्र के [चित्रं] विचित्र (अनेक प्रकार के) [सकलं] समस्त पदार्थों को [जैनं] जिनदेव का ज्ञान [युगपत् जानाति] एक साथ जानता है [अहो हि] अहो ! [ज्ञानस्य माहात्म्यम्] ज्ञान का माहात्म्य ! ॥५१॥

केवलज्ञानी के ज्ञप्तिक्रिया का सद्भाव होने पर भी उसके क्रिया के फलरूप बन्ध का निषेध

ण वि परिणमदि ण गेण्हदि उप्पज्जदि णेव तेसु अट्ठेसु । (52)
जाणण्णवि ते आदा अबंधगो तेण पण्णत्तो ॥53॥
सर्वार्थ जाने जीव पर उनरूप न परिणमित हो
बस इसलिए है अबंधक ना ग्रहे ना उत्पन्न हो ॥५३॥

अन्वयार्थ : [आत्मा] (केवलज्ञानी) आत्मा [तान् जानन् अपि] पदार्थों को जानता हुआ भी [न अपि परिणमति] उस रूप परिणमित नहीं होता, [न गृह्णति] उन्हें ग्रहण नहीं करता [तेषु अर्थेषु न एव उत्पद्यते] और उन पदार्थों के रूप में उत्पन्न नहीं होता [तेन] इसलिये

[अबन्धक: प्रज्ञप्त:] उसे अबन्धक कहा है ॥५२॥

ज्ञान-प्रपंच व्याख्यान के बाद आधारभूत सर्वज्ञ को नमस्कार

तस्स णमाइं लोगो देवासुरमणुअरायसंबंधो ।
भत्तो करेदि णिच्चं उवजुत्तो तं तहा वि अहं ॥54॥
नमन करते जिन्हें नरपति सुर-असुरपति भक्तगण
मैं भी उन्हीं सर्वज्ञजिन के चरण में करता नमन ॥५४॥

अन्वयार्थ : देवराज, असुरराज और मनुजराज सम्बन्धी भक्तलोक उपयोग-पूर्वक हमेशा उन सर्वज्ञ भजवान को नमस्कार करते हैं; मैं भी उसीप्रकार उनको नमस्कार करता हूँ ॥५४॥

ज्ञान और सुख की हेयोपादेयता

अत्थि अमुत्तं मुत्तं अदिंदियं इंदियं च अत्थेसु । (53)
णाणं च तहा सोक्खं जं तेसु परं च तं णेयं ॥55॥
मूर्त और अमूर्त इन्द्रिय अर अतीन्द्रिय ज्ञान-सुख
इनमें अमूर्त अतीन्द्रियी ही ज्ञान-सुख उपादेय हैं ॥५५॥

अन्वयार्थ : [अर्थेषु ज्ञानं] पदार्थ सम्बन्धी ज्ञान [अमूर्तं मूर्तं] अमूर्त या मूर्त, [अतीन्द्रिय ऐन्द्रिय च अस्ति] अतीन्द्रिय या ऐन्द्रिय होता है; [च तथा सौख्यं] और इसी-प्रकार (अमूर्त या मूर्त, अतीन्द्रिय या ऐन्द्रिय) सुख होता है । [तेषु च यत् परं] उसमें जो प्रधान-उत्कृष्ट है [तत् ज्ञेयं] वह उपादेय-रूप जानना ॥५३॥

अतीन्द्रिय सुख का साधनभूत अतीन्द्रिय ज्ञान उपादेय है

जं पेच्छदो अमुत्तं मुत्तेसु अदिंदियं च पच्छण्णं । (54)
सयलं सगं च इदरं तं णाणं हवदि पच्चक्खं ॥56॥
अमूर्त को अर मूर्त में भी अतीन्द्रिय प्रच्छन्न को
स्व-पर को सर्वार्थ को जाने वही प्रत्यक्ष है ॥५६॥

अन्वयार्थ : [प्रेक्षमाणस्य यत्] देखने-वाले का जो ज्ञान [अमूर्तं] अमूर्त को, [मूर्तेषु] मूर्त पदार्थों में भी [अतीन्द्रियं] अतीन्द्रिय को, [च प्रच्छन्नं] और प्रच्छन्न को, [सकलं] इन सबको- [स्वकं च इतरत] स्व तथा पर को - देखता है, [तद् ज्ञानं] वह ज्ञान [प्रत्यक्ष भवति] प्रत्यक्ष है ॥५४॥

इन्द्रिय-सुख का साधनभूत इन्द्रिय-ज्ञान हेय है

जीवो सयं अमुत्तो मुत्तिगदो तेण मुत्तिणा मुत्तं । (55)
ओगेण्हित्ता जोग्गं जाणदि वा तं ण जाणादि ॥57॥
यह मूर्ततनगत जीव मूर्तपदार्थ जाने मूर्त से
अवग्रहादिकपूर्वक अर कभी जाने भी नहीं ॥५७॥

अन्वयार्थ : [स्वयं अमूर्त:] स्वयं अमूर्त ऐसा [जीव:] जीव [मूर्तिगतः] मूर्त शरीर को प्राप्त होता हुआ [तेन मूर्तेन] उस मूर्त शरीर के द्वारा [योग्य मूर्तं] योग्य मूर्त पदार्थ को [अवग्रह्य] *अवग्रह करके (इन्द्रिय-ग्रहण योग्य मूर्त पदार्थ का अवग्रह करके) [तत्] उसे [जानाति] जानता है [वा न जानाति] अथवा नहीं जानता (कभी जानता है और कभी नहीं जानता) ॥५५॥

*अवग्रह = मतिज्ञान से किसी पदार्थ को जानने का प्रारम्भ होने पर पहले ही अवग्रह होता है क्योंकि मतिज्ञान अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा-इस क्रम से जानता है

इन्द्रियाँ मात्र अपने विषयों में भी युगपत् प्रवृत्त नहीं होतीं, इसलिये इन्द्रियज्ञान हेय ही है

फासो रसो य गंधो वण्णो सद्दो य पोग्गला होंति । (56)

अक्खाणं ते अक्खा जुगवं ते णेव गेण्हंति ॥58॥

पौद्गलिक स्पर्श रस गंध वर्ण अर शब्दादि को

भी इन्द्रियाँ इक साथ देखो ग्रहण कर सकती नहीं ॥५८॥

अन्वयार्थ : [स्पर्श:] स्पर्श, [रस: च] रस, [गंध:] गंध, [वर्ण:] वर्ण [शब्द: च] और शब्द [पुद्गला:] पुद्गल हैं, वे [अक्षाणां भवन्ति] इन्द्रियों के विषय हैं [तानि अक्षाणि] (परन्तु) वे इन्द्रियाँ [तान्] उन्हें (भी) [युगपत्] एक साथ [न एव गृह्णन्ति] ग्रहण नहीं करतीं (नहीं जान सकतीं) ॥५६॥

इन्द्रियज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है

परदव्वं ते अक्खा णेव सहावो त्ति अप्पणो भणिदा । (57)

उवलद्धं तेहि कधं पच्चक्खं अप्पणो होदि ॥59॥

इन्द्रियाँ परद्रव्य उनको आत्मस्वभाव नहीं कहा

अर जो उन्हीं से ज्ञात वह प्रत्यक्ष कैसे हो सके ?॥५९॥

अन्वयार्थ : [तानि अक्षाणि] वे इन्द्रियाँ [परद्रव्यं] पर द्रव्य हैं [आत्मनः स्वभाव: इति] उन्हें आत्म-स्वभावरूप [न एव भणितानि] नहीं कहा है; [तै:] उनके द्वारा [उपलब्धं] ज्ञात [आत्मनः] आत्मा को [प्रत्यक्षं] प्रत्यक्ष [कथं भवति] कैसे हो सकता है ? ॥५७॥

परोक्ष और प्रत्यक्ष के लक्षण बतलाते हैं

जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खं ति भणिदमट्ठेसु । (58)

जदि केवलेण णादं हवदि हि जीवेण पच्चक्खं ॥60॥

जो दूसरों से ज्ञात हो बस वह परोक्ष कहा गया

केवल स्वयं से ज्ञात जो वह ज्ञान ही प्रत्यक्ष है ॥६०॥

अन्वयार्थ : [परत:] पर के द्वारा होने वाला [यत्] जो [अर्थेषु विज्ञानं] पदार्थ सम्बन्धी विज्ञान है [तत् तु] वह तो [परोक्षं इति भणितं] परोक्ष कहा गया है, [यदि] यदि [केवलेन जीवेण] मात्र जीव के द्वारा ही [ज्ञात भवति हि] जाना जाये तो [प्रत्यक्षं] वह ज्ञान प्रत्यक्ष है ॥५८॥

प्रत्यक्ष-ज्ञान पारमार्थिक सुख-रूप

जादं सयं समंतं णाणमणंतत्थवित्थडं विमलं । (59)

रहिदं तु ओग्गहादिहिं सुहं ति एगंतियं भणिदं ॥61॥

स्वयं से सर्वांग से सर्वार्थग्राही मलरहित

अवग्रहादि विरहित ज्ञान ही सुख कहा जिनवरदेव ने ॥६१॥

अन्वयार्थ : [स्वयं जात] अपने आप ही उत्पन्न [समंतं] समंत (सर्व प्रदेशों से जानता हुआ) [अनन्तार्थविस्तृतं] अनन्त पदार्थों में विस्तृत [विमलं] विमल [तु] और [अवग्रहादिभि: रहितं] अवग्रहादि से रहित- [ज्ञानं] ऐसा ज्ञान [ऐकान्तिकं सुखं] ऐकान्तिक सुख है [इति भणित] ऐसा (सर्वज्ञ-देव ने) कहा है ॥५९॥

ऐसे अभिप्राय का खंडन करते हैं कि 'केवलज्ञान को भी परिणाम के द्वारा' खेद का सम्भव होने से केवलज्ञान ऐकान्तिक सुख नहीं है

जं केवलं ति णाणं तं सोक्खं परिणमं च सो चेव । (60)

खेदो तस्स ण भणिदो जम्हा घादी खयं जादा ॥62॥
अरे केवलज्ञान सुख परिणाममय जिनवर कहा
क्षय हो गये हैं घातिया रे खेद भी उसके नहीं ॥६२॥
अन्वयार्थ : [यत्] जो [केवलं इति ज्ञानं] 'केवल' नाम का ज्ञान है [तत् सौख्यं] वह सुख है [परिणाम: च] परिणाम भी [सः च एव] वही है [तस्य खेद: न भणित:] उसे खेद नहीं कहा है (अर्थात् केवलज्ञान में सर्वज्ञ-देव ने खेद नहीं कहा) [यस्मात्] क्योंकि [घातीनि] घाति-कर्म [क्षयं जातानि] क्षय को प्राप्त हुए हैं ॥६०॥

'केवलज्ञान सुखस्वरूप है' ऐसा निरूपण करते हुए उपसंहार

णाणं अत्थंतगयं लोयालोएसु वित्थडा दिट्ठी । (61)
णट्ठमणिट्ठं सव्वं इट्ठं पुण जं तु तं लद्धं ॥63॥
अर्थान्तगत है ज्ञान लोकालोक विस्तृत दृष्टि है
नष्ट सर्व अनिष्ट एवं इष्ट सब उपलब्ध हैं॥६३॥
अन्वयार्थ : [ज्ञानं] ज्ञान [अर्थान्तगतं] पदार्थों के पार को प्राप्त है [दृष्टि:] और दर्शन [लोकालोकेषु विस्तृता:] लोकालोक में विस्तृत है; [सर्वं अनिष्टं] सर्व अनिष्ट [नष्टं] नष्ट हो चुका है [पुन:] और [यत् तु] जो [इष्टं] इष्ट है [तत्] वह सब [लब्धं] प्राप्त हुआ है । (इसलिये केवल, अर्थात् केवलज्ञान सुखस्वरूप है) ॥६१॥

केवलज्ञानियों को ही पारमार्थिक सुख होता है

न श्रद्दधति सौख्यं सुखेषु परममिति विगतघातिनाम् । (62)
श्रुत्वा ते अभव्या भव्या वा तत्प्रतीच्छन्ति ॥64॥
घातियों से रहित सुख ही परमसुख यह श्रवण कर
भी न करें श्रद्धान तो वे अभवि भवि श्रद्धा करें ॥६४॥
अन्वयार्थ : ’[विगतघातिनां] जिनके घाति-कर्म नष्ट हो गये हैं उनका [सौख्यं] सुख [सुखेषु परमं] (सर्व) सुखों में परम अर्थात् उत्कृष्ट है' [इति श्रुत्वा] ऐसा वचन सुनकर [न श्रद्दधति] जो श्रद्धा नहीं करते [ते अभव्या:] वे अभव्य हैं; [भव्या: वा] और भव्य [तत्] उसे [प्रतीच्छन्ति] स्वीकार (आदर) करते हैं - उसकी श्रद्धा करते हैं ॥६२॥

परोक्षज्ञान वालों के अपारमार्थिक इन्द्रिय-सुख

मणुआसुरामरिंदा अहिद्दुदा इन्दिएहिं सहजेहिं । (63)
असहंता तं दुक्खं रमंति विसएसु रम्मेसु ॥65॥
नरपती सुरपति असुरपति इन्द्रियविषयदवदाह से
पीड़ित रहें सह सके ना रमणीक विषयों में रमें ॥६५॥
अन्वयार्थ : [मनुजासुरामरेन्द्रा:] मनुष्येन्द्र (चक्रवर्ती) असुरेन्द्र और सुरेन्द्र [सहजै: इन्द्रियै:] स्वाभाविक (परोक्ष-ज्ञानवालो को जो स्वाभाविक है ऐसी) इन्द्रियों से [अभिद्रुता:] पीड़ित वर्तते हुए [तद् दुःखं] उस दुःख को [असहमाना:] सहन न कर सकने से [रम्येषु विषयेषु] रम्य विषयों में [रमन्ते] रमण करते हैं ॥६३॥

जहाँ तक इन्द्रियाँ हैं वहाँ तक स्वभाव से ही दुःख है

जेसिं विसएसु रदी तेसिं दुक्खं वियाण सब्भावं । (64)
जइ तं ण हि सब्भावं वावारो णत्थि विसयत्थं ॥66॥
पंचेन्द्रियविषयों में रती वे हैं स्वभाविक दु:खीजन
दु:ख के बिना विषविषय में व्यापार हो सकता नहीं ॥६६॥

अन्वयार्थ : [येषां] जिन्हें [विषयेषु रतिः] विषयों में रति है, [तेषां] उन्हें [दुःख] दुःख [स्वाभावं] स्वाभाविक [विजानीहि] जानो; [हि] क्योंकि [यदि] यदि [तद्] वह दुःख [स्वभावं न] स्वभाव न हो तो [विषयार्थं] विषयार्थ में [व्यापारः] व्यापार [न अस्ति] न हो ॥६४॥

मुक्त आत्मा के सुख की प्रसिद्धि के लिये, शरीर सुख का साधन होने की बात का खंडन

पप्पा इट्ठे विसये फासेहिं समस्सिदे सहावेण । (65)
परिणममाणो अप्पा सयमेव सुहं ण हवदि देहो ॥67॥
इन्द्रिय विषय को प्राप्त कर यह जीव स्वयं स्वभाव से
सुखरूप हो पर देह तो सुखरूप होती ही नहीं ॥६७॥

अन्वयार्थ : [स्पर्शैः समाश्रितान्] स्पर्शनादिक इन्द्रियाँ जिनका आश्रय लेती हैं ऐसे [इष्टान् विषयान्] इष्ट विषयों को [प्राप्य] पाकर [स्वभावेन] (अपने शुद्ध) स्वभाव से [परिणममानः] परिणमन करता हुआ [आत्मा] आत्मा [स्वयमेव] स्वयं ही [सुख] सुखरूप (इन्द्रिय-सुखरूप) होता है [देहः न भवति] देह सुखरूप नहीं होती ॥६५॥

इसी बात को दृढ़ करते हैं

एगंतेण हि देहो सुहं ण देहिस्स कुणदि सग्गे वा । (66)
विसयवसेण दु सोक्खं दुक्खं वा हवदि सयमादा ॥68॥
स्वर्ग में भी नियम से यह देह देही जीव को
सुख नहीं दे यह जीव ही बस स्वयं सुख-दुखरूप हो ॥६८॥

अन्वयार्थ : [एकान्तेन हि] एकांत से अर्थात् नियम से [स्वर्गे वा] स्वर्ग में भी [देहः] शरीर [देहिनः] शरीरी (आत्मा को) [सुखं न करोति] सुख नहीं देता [विषयवशेन तु] परन्तु विषयों के वश से [सौख्य दुःखं वा] सुख अथवा दुःखरूप [स्वयं आत्मा भवति] स्वयं आत्मा होता है ॥६६॥

जैसे निश्चय से शरीर सुख का साधन नहीं है, उसी प्रकार निश्चय से विषय भी सुख के करण नहीं

तिमिरहरा जइ दिट्ठी जणस्स दीवेण णत्थि कायव्वं । (67)
तह सोक्खं सयमादा विसया किं तत्थ कुव्वंति ॥69॥
तिमिरहर हो दृष्टि जिसकी उसे दीपक क्या करें
जब जिय स्वयं सुखरूप हो इन्द्रिय विषय तब क्या करें ॥६९॥

अन्वयार्थ : [यदि] यदि [जनस्य दृष्टिः] प्राणी की दृष्टि [तिमिरहरा] तिमिर-नाशक हो तो [दीपेन नास्ति कर्तव्यं] दीपक से कोई प्रयोजन नहीं है, अर्थात् दीपक कुछ नहीं कर सकता, [तथा] उसी प्रकार जहाँ [आत्मा] आत्मा [स्वयं] स्वयं [सौख्यं] सुख-रूप परिणमन करता है [तत्र] वहाँ [विषयाः] विषय [किं कुर्वन्ति] क्या कर सकते हैं? ॥६७॥

आत्मा के सुख-स्वभावता और ज्ञान-स्वभावता अन्य दृष्टान्त से दृढ़ करते हैं

सयमेव जहादिच्चो तेजो उण्हो य देवदा णभसि । (68)
सिद्धो वि तहा णाणं सुहं च लोगे तहा देवो ॥70॥
जिसतरह आकाश में रवि उष्ण तेजरु देव है
बस उसतरह ही सिद्धगण सब ज्ञान सुखरु देव हैं ॥७०॥

अन्वयार्थ : [यथा] जैसे [नभसि] आकाश में [आदित्यः] सूर्य [स्वयमेव] अपने आप ही [तेजः] तेज, [उष्णः] उष्ण [च] और [देवता] देव है, [तथा] उसी प्रकार [लोके] लोक में [सिद्धः अपि] सिद्ध भगवान भी (स्वयमेव) [ज्ञानं] ज्ञान [सुखं च] सुख [तथा देवः] और देव हैं ॥६८॥

श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव पूर्वोक्त लक्षण अनन्त-सुख के आधारभूत सर्वज्ञ को वस्तुस्तवनरूप से नमस्कार करते हैं

तेजो दिट्ठी णाणं इड्ढी सोक्खं तहेव ईसरियं ।
तिहुवणपहाणदैयं माहप्पं जस्स सो अरिहो ॥71॥
प्राधान्य है त्रैलोक्य में ऐश्वर्य ऋद्धि सहित हैं
तेज दर्शन ज्ञान सुख युत पूज्य श्री अरिहंत हैं ॥७१॥

अन्वयार्थ : जिनके भामण्डल, केवलदर्शन, केवलज्ञान, ऋद्धि, अतीन्द्रिय सुख, ईश्वरता, तीन लोक में प्रधान देव आदि माहात्म्य हैं; वे अरहंत भगवान हैं ॥७१॥

उन्हीं भगवान को सिद्धावस्था सम्बन्धी गुणों के स्तवनरूप से नमस्कार

तं गुणदो अधिगदरं अविच्छिदं मणुवदेवपदिभावं ।
अपुणब्भावणिबद्धं पणमामि पुणो पुणो सिद्धं ॥72॥
हो नमन बारम्बार सुरनरनाथ पद से रहित जो
अपुनर्भावी सिद्धगण गुण से अधिक भव रहित जो ॥७२॥

अन्वयार्थ : उन गुणों से परिपूर्ण, मनुष्य व देवों के स्वामित्व से रहित, अपुनर्भाव निबद्ध-मोक्ष स्वरूप सिद्ध भगवान को बारंबार प्रणाम करता हूँ ॥७२॥

इन्द्रिय-सुख स्वरूप सम्बन्धी विचारों को लेकर, उसके साधन (शुभोपयोग) का स्वरूप

देवदजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु । (69)
उववासादिसु रत्तो सुहोवओगप्पगो अप्पा ॥73॥
देव-गुरु-यति अर्चना अर दान उपवासादि में
अर शील में जो लीन शुभ उपयोगमय वह आतमा ॥७३॥

अन्वयार्थ : [देवतायतिगुरुपूजासु] देव, गुरु और यति की पूजा में, [दाने च एव] दान में [सुशीलेषु वा] एवं सुशीलों में [उपवासादिषु] और उपवासादिक में [रक्त: आत्मा] लीन आत्मा [शुभोपयोगात्मक:] शुभोपयोगात्मक है ॥६९॥

शुभोपयोग साधन है और उनका साध्य इन्द्रियसुख है

जुत्तो सुहेण आदा तिरिओ वा माणुसो व देवो वा । (70)
भूदो तावदि कालं लहदि सुहं इन्दियं विविहं ॥74॥
अरे शुभ उपयोग से जो युक्त वह तिर्यग्गति
अर देव मानुष गति में रह प्राप्त करता विषयसुख ॥७४॥

अन्वयार्थ : [शुभेन युक्त:] शुभोपयोग-युक्त [आत्मा] आत्मा [तिर्यक् वा] तिर्यंच, [मानुष: वा] मनुष्य [देव: वा] अथवा देव [भूत:] होकर, [तावत्कालं] उतने समय तक [विविधं] विविध [ऐन्द्रियं सुखं] इन्द्रिय-सुख [लभते] प्राप्त करता है ॥७०॥

इसप्रकार इन्द्रिय-सुख की बात उठाकर अब इन्द्रिय-सुख को दुखपने में डालते हैं

सोक्खं सहावसिद्धं णत्थि सुराणं पि सिद्धमुवदेसे । (71)
ते देहवेदणट्ठा रमंति विसएसु रम्मेसु ॥75॥
उपदेश से है सिद्ध देवों के नहीं है स्वभावसुख
तनवेदना से दुखी वे रमणीक विषयों में रमे ॥७५॥

अन्वयार्थ : [उपदेशे सिद्धं] (जिनेन्द्र-देव के) उपदेश से सिद्ध है कि [सुराणाम् अपि] देवों के भी [स्वभावसिद्धं] स्वभाव-सिद्ध [सौख्यं] सुख [नास्ति] नहीं है; [ते] वे [देहवेदनार्ता] (पंचेन्द्रियमय) देह की वेदना से पीड़ित होने से [रम्येसु विषयेसु] रम्य विषयों में [रमन्ते] रमते हैं ॥७१॥

इन्द्रिय-सुख के साधनभूत पुण्य को उत्पन्न करनेवाले शुभोपयोग की, दुःख के साधनभूत पाप को उत्पन्न करनेवाले अशुभोपयोग से अविशेषता

णरणारयतिरियसुरा भजन्ति जदि देहसंभवं दुक्खं । (72)
किह सो सुहो व असुहो उवओगो हवदि जीवाणं ॥76॥
नर-नारकी तिर्यंच सुर यदि देहसंभव दु:ख को
अनुभव करें तो फिर कहो उपयोग कैसे शुभ-अशुभ ? ॥७६॥

अन्वयार्थ : [नरनारकतिर्यक्सुरा:] मनुष्य, नारकी, तिर्यंच और देव (सभी) [यदि] यदि [देहसंभवं] देहोत्पन्न [दुःखं] दुःख को [भजंति] अनुभव करते हैं, [जीवानां] तो जीवों का [सः उपयोग:] वह (शुद्धोपयोग से विलक्षण- अशुद्ध) उपयोग [शुभ: वा अशुभ:] शुभ और अशुभ-दो प्रकार का [कथं भवति] कैसे है? (अर्थात् नहीं है) ॥७२॥

शुभोपयोग-जन्य फलवाला जो पुण्य है उसे विशेषत: दूषण देने के लिये उस पुण्य को (उसके अस्तित्व को) स्वीकार करके, उसकी (पुण्य की) बात का खंडन

कुलिसाउहचक्कधरा सुहोवओगप्पगेहिं भोगेहिं । (73)
देहादीणं विद्धिं करेंति सुहिदा इवाभिरदा ॥77॥
वज्रधर अर चक्रधर सब पुण्यफल को भोगते
देहादि की वृद्धि करें पर सुखी हों ऐसे लगे ॥७७॥

अन्वयार्थ : [कुलिशायुधचक्रधरा:] वज्रधर और चक्रधर (इन्द्र और चक्रवर्ती) [शुभोपयोगात्मकै: भोगै:] शुभोपयोग-मूलक (पुण्यों के फलरूप) भोगों के द्वारा [देहादीनां] देहादि की [वृद्धिं कुर्वन्ति] पुष्टि करते हैं और [अभिरता:] (इस प्रकार) भोगों में रत वर्तते हुए [सुखिता: इव] सुखी जैसे भासित होते हैं । (इसलिये पुण्य विद्यमान अवश्य है) ॥७३॥

इस प्रकार स्वीकार किये गये पुण्य दु:ख के बीज (तृष्णा) के कारण हैं

जदि संति हि पुण्णाणि य परिणामसमुब्भवाणि विविहाणि । (74)
जणयंति विसयतण्हं जीवाणं देवदंताणं ॥78॥
शुभभाव से उत्पन्न विध-विध पुण्य यदि विद्यमान हैं
तो वे सभी सुरलोक में विषयेषणा पैदा करें ॥७८॥

अन्वयार्थ : [यदि हि] (पूर्वोक्त पकार से) यदि [परिणामसमुद्भवानी] (शुभोपयोग-रूप) परिणाम से उत्पन्न होने वाले [विविधानि पुण्यानि च] विविध पुण्य [संति] विद्यमान हैं, [देवतान्तानां जीवानां] तो वे देवों तक के जीवों को [विषयतृष्णां] विषयतृष्णा [जनयन्ति] उत्पन्न करते हैं ॥७४॥

पुण्य में दुःख के बीज की विजय घोषित करते हैं

ते पुण उदिण्णतण्हा दुहिदा तण्हाहिं विसयसोक्खाणि । (75)
इच्छंति अणुभवंति य आमरणं दुक्खसंतत्ता ॥79॥
अरे जिनकी उदित तृष्णा दु:ख से संतप्त वे
हैं दुखी फिर भी आमरण वे विषयसुख ही चाहते ॥७९॥

अन्वयार्थ : [पुन:] और, [उदीर्णतृष्णा: ते] जिनकी तृष्णा उदित है ऐसे वे जीव [तृष्णाभि: दुःखिता:] तृष्णाओं के द्वारा दुःखी होते हुए,

[आमरणं] मरणपर्यंत [विषय सौख्यानि इच्छन्ति] विषय-सुखों को चाहते हैं [च] और [दुःखसन्तसा:] दुःखों से संतप्त होते हुए (दुःख-दाह को सहन न करते हुए) [अनुभवंति] उन्हें भोगते हैं ॥७५॥

पुन: पुण्य-जन्य इन्द्रिय-सुख को अनेक पकार से दुःखरूप प्रकाशित करते हैं

सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं । (76)

जं इंदिएहि लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा ॥80॥

इन्द्रियसुख सुख नहीं दुख है विषम बाधा सहित है

है बंध का कारण दुखद परतंत्र है विच्छिन्न है ॥८०॥

अन्वयार्थ : [यत्] जो [इन्द्रियै: लब्धं] इन्द्रियों से प्राप्त होता है [तत् सौख्य] वह सुख [सपरं] पर-सम्बन्ध-युक्त, [बाधासहितं] बाधासहित [विच्छिन्नं] विच्छिन्न [बंधकारणं] बंधका कारण [विषमं] और विषम है; [तथा] इस प्रकार [दुःखम् एव] वह दुःख ही है ॥७६॥

पुण्य और पाप की अविशेषता का निश्चय करते हुए उपसंहार

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं । (77)

हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो ॥81॥

पुण्य-पाप में अन्तर नहीं है - जो न माने बात ये

संसार-सागर में भ्रमें मद-मोह से आच्छन्न वे ॥८१॥

अन्वयार्थ : [एवं] इसप्रकार [पुण्यपापयो:] पुण्य और पाप में [विशेष: नास्ति] अन्तर नहीं है [इति] ऐसा [यः] जो [न हि मन्यते] नहीं मानता, [मोहसंछन्न:] वह मोहाच्छादित होता हुआ [घोर अपारं संसारं] घोर अपार संसार में [हिण्डति] परिभ्रमण करता है ॥७७॥

इस प्रकार शुभ और अशुभ उपयोग की अविशेषता अवधारित करके, अशेष दुःख का क्षय करने का मन में दृढ़ निश्चय करके शुद्धोपयोग में निवास

एवं विदिदत्थो जो दव्वेसु ण रागमेदि दोसं वा । (78)

उवओगविसुद्धो सो खवेदि देहुब्भवं दुक्खं ॥82॥

विदितार्थजन परद्रव्य में जो राग-द्वेष नहीं करें

शुद्धोपयोगी जीव वे तनजनित दु:ख को क्षय करें ॥८२॥

अन्वयार्थ : [एवं] इसप्रकार [विदितार्थ:] वस्तु-स्वरूप को जानकर [यः] जो [द्रव्येषु] द्रव्यों के प्रति [रागं द्वेषं वा] राग या द्वेष को [न एति] प्राप्त नहीं होता, [स] वह [उपयोगविशुद्ध:] उपयोगविशुद्ध होता हुआ [देहोद्भवं दुःखं] देहोत्पन्न दुःख का [क्षपयति] क्षय करता है ॥७८॥

शुद्धोपयोग के अभाव में शुद्धात्मा को प्राप्त नहीं करता है - व्यतिरेक रूप से दृढ करते हैं

चत्ता पावारंभं समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्मि । (79)

ण जहदि जदि मोहादी ण लहदि सो अप्पगं सुद्धं ॥83॥

सब छोड़ पापारंभ शुभचारित्र में उद्यत रहें

पर नहीं छोड़े मोह तो शुद्धातमा को ना लहें ॥८३॥

अन्वयार्थ : [पापारम्भं] पापरम्भ को [त्यक्त्वा] छोड़कर [शुभे चरित्रे] शुभ चारित्र में [समुत्थित: वा] उद्यत होने पर भी [यदि] यदि जीव [मोहादीन्] मोहादि को [न जहाति] नहीं छोड़ता, तो [सः] वह [शुद्धं आत्मकं] शुद्ध आत्मा को [न लभते] प्राप्त नहीं होता ॥७९॥

शुद्धोपयोग का अभाव होने पर जैसे (जिन के समान) जिन सिद्ध स्वरूप को प्राप्त नहीं करता है

तवसंजमप्पसिद्धो सुद्धो सग्गापवग्गमग्गकरो ।

अमरासुरिंदमहिदो देवो सो लोयसिहरत्थो ॥84॥

हो स्वर्ग अर अपवर्ग पथदर्शक जिनेश्वर आपही

लोकाग्रथित तपसंयमी सुर-असुर वंदित आपही ॥८४॥

अन्वयार्थ : तप और संयम से सिद्ध हुए वे देव स्वर्ग तथा मोक्षमार्ग के प्रदर्शक, देवेन्द्रों-असुरेन्द्रों से पूजित तथा लोक के शिखर पर स्थित हैं ॥८४॥

इस प्रकार के उन निर्दोषी परमात्मा की जो श्रद्धा करते हैं - उन्हे मानते हैं - वे अक्षय सुख को प्राप्त करते हैं, एसा प्रज्ञापन करते हैं - ज्ञान कराते हैं

तं देवदेवदेवं जदिवरवसहं गुरुं तिलोयस्स ।

पणमंति जे मणुस्सा ते सोक्खं अक्खयं जंति ॥85॥

देवेन्द्रों के देव यतिवरवृषभ तुम त्रैलोक्यगुरु

जो नमें तुमको वे मनुज सुख संपदा अक्षय लहें ॥८५॥

अन्वयार्थ : जो मनुष्य देवेन्द्रों के भी देव - देवाधिदेव, मुनिवरों में श्रेष्ठ, तीनलोकके गुरु (उन निर्दोषी परमात्मा) को नमस्कार करते हैं; वे अक्षय सुख प्राप्त करते हैं ॥८५॥

'मैं मोह की सेना को कैसे जीतूं' - ऐसा उपाय विचारता है

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं । (80)

सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥86॥

द्रव्य गुण पर्याय से जो जानते अरहंत को

वे जानते निज आतमा दृगमोह उनका नाश हो ॥८६॥

अन्वयार्थ : [यः] जो [अर्हन्तं] अरहन्त को [द्रव्यत्व-गुणत्वपर्ययत्वैः] द्रव्यपने गुणपने और पर्यायपने [जानाति] जानता है, [सः] वह [आत्मानं] (अपने) आत्मा को [जानाति] जानता है और [तस्य मोह:] उसका मोह [खलु] अवश्य [लयं याति] लय को प्राप्त होता है ॥८०॥

इसप्रकार मैने चिंतामणि-रत्न प्राप्त कर लिया है तथापि प्रमाद चोर विद्यमान है, ऐसा विचार कर जागृत रहता है

जीवो ववगदमोहो उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं । (81)

जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाणं लहदि सुद्धं ॥87॥

जो जीव व्यपगत मोह हो - निज आत्म उपलब्धि करें

वे छोड़ दें यदि राग रुष शुद्धात्म उपलब्धि करें ॥८७॥

अन्वयार्थ : [व्यपगतमोह:] जिसने मोह को दूर किया है और [सम्यक् आत्मन: तत्त्वं] आत्मा के सम्यक् तत्त्व को (सच्चे स्वरूप को) [उपलब्धवान्] प्राप्त किया है ऐसा [जीव:] जीव [यदि] यदि [रागद्वेषौ] रागद्वेष को [जहाति] छोड़ता है, [सः] तो वह [शुद्धं आत्मानं] शुद्ध आत्मा को [लभते] प्राप्त करता है ॥८१॥

यही एक, भगवन्तों ने स्वयं अनुभव करके प्रगट किया हुआ मोक्ष का पारमार्थिक पंथ है

सव्वे वि य अरहंता तेण विधाणेण खविदकम्मंसा । (82)

किच्चा तधोवदेसं णिव्वादा ते णमो तेसिं ॥88॥

सर्व ही अरहंत ने विधि नष्ट कीने जिस विधी

सबको बताई वही विधि हो नमन उनको सब विधी ॥८८॥

अन्वयार्थ : [सर्वे अपि च] सभी [अर्हन्तः] अरहन्त भगवान [तेन विधानेन] उसी विधि से [क्षपितकर्मांशा:] कर्मांशों का क्षय करके [तथा]

तथा उसी प्रकार से [उपदेशं कृत्वा] उपदेश करके [निवृता: ते] मोक्ष को प्राप्त हुए हैं [नम: तेभ्य:] उन्हें नमस्कार हो ॥८२॥

दंसणसुद्धा पुरिसा णाणपहाणा समग्गचरियत्था ।
पूजासक्काररिहा दाणस्स य हि ते णमो तेसिं ॥89॥
अरे समकित ज्ञान सम्यक्चरण से परिपूर्ण जो
सत्कार पूजा दान के वे पात्र उनको नमन हो ॥८९॥

अन्वयार्थ : जो पुरुष सम्यग्दर्शन से शुद्ध, ज्ञान में प्रधान और परिपूर्ण चारित्र में स्थित हैं, वे ही पूजा, सत्कार और दान के योग्य हैं; उन्हें नमस्कार हो ॥८९॥

शुद्धात्म-लाभ के परिपंथी (शत्रु) मोह का स्वभाव और उसमें प्रकारों को व्यक्त करते हैं

दव्वादिएसु मूढो भावो जीवस्स हवदि मोहो त्ति । (83)
खुब्भदि तेणुच्छण्णो पप्पा रागं व दोसं वा ॥90॥
द्रव्यादि में जो मूढ़ता वह मोह उसके जोर से
कर राग रुष परद्रव्य में जिय क्षुब्ध हो चहुंओर से ॥९०॥

अन्वयार्थ : [जीवस्य] जीवके [द्रव्यादिकेषु मूढ: भाव:] द्रव्यादि सम्बन्धी मूढ़ भाव (द्रव्य-गुण-पर्याय सम्बन्धी जो मूढ़तारूप परिणाम) [मोह: इति भवति] वह मोह है [तेन अवच्छन्न:] उससे आच्छादित वर्तता हुआ जीव [रागं वा द्वेषं वा प्राप्य] राग अथवा द्वेष को प्राप्त कर के [क्षुभ्यति] क्षुब्ध होता है ॥८३॥

तीनों प्रकार के मोह को अनिष्ट कार्य का कारण कहकर उसका क्षय करने को सूत्र द्वारा कहते हैं

मोहेण व रागेण व दोसेण व परिणदस्स जीवस्स । (84)
जायदि विविहो बंधो तम्हा ते संखवइदव्वा ॥91॥
बंध होता विविध मोहरु क्षोभ परिणत जीव के
बस इसलिए सम्पूर्णत: वे नाश करने योग्य हैं ॥९१॥

अन्वयार्थ : [मोहेन वा] मोहरूप [रागेण वा] रागरूप [द्वेषेण वा] अथवा द्वेषरूप [परिणतस्य जीवस्य] परिणमित जीव के [विविध: बंध:] विविध बंध [जायते] होता है; [तस्मात्] इसलिये [ते] वे (मोह-राग-द्वेष) [संक्षपयितव्या:] सम्पूर्णतया क्षय करने योग्य हैं ॥८४॥

इस मोह-राग-द्वेष को इन चिन्हों के द्वारा पहिचान कर उत्पन्न होते ही नष्ट कर देना चाहिये

अट्ठे अजधागहणं करुणाभावो य तिरियमणुएसु । (85)
विसएसु य प्पसंगो मोहस्सेदाणि लिंगाणि ॥92॥
अयथार्थ जाने तत्त्व को अति रती विषयों के प्रति
और करुणाभाव ये सब मोह के ही चिह्न हैं ॥९२॥

अन्वयार्थ : [अर्थे अयथाग्रहणं] पदार्थ का अयथाग्रहण (अर्थात् पदार्थों को जैसे हैं वैसे सत्य-स्वरूप न मानकर उनके विषय में अन्यथा समझ) [च] और [तिर्यङ्मनुजेषु करुणाभाव:] तिर्यंच-मनुष्यों के प्रति करुणाभाव, [विषयेषु प्रसंग: च] तथा विषयों की संगति (इष्ट विषयों में प्रीति और अनिष्ट विषयों में अप्रीति) - [एतानि] यह सब [मोहस्य लिंगानि] मोह के चिह्न-लक्षण हैं ॥८५॥

मोह-क्षय करने का उपायान्तर (दूसरा उपाय) विचारते हैं

जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा । (86)
खीयदि मोहोवचयो तम्हा सत्थं समधिदव्वं ॥93॥
तत्त्वार्थ को जो जानते प्रत्यक्ष या जिनशास्त्र से
दृगमोह क्षय हो इसलिए स्वाध्याय करना चाहिए ॥९३॥

अन्वयार्थ : [जिनशास्त्रात्] जिनशास्त्र द्वारा [प्रत्यक्षादिभि:] प्रत्यक्षादि प्रमाणों से [अर्थान्] पदार्थों को [बुध्यमानस्य] जानने वाले के [नियमात्] नियम से [मोहोपचय:] *मोहोपचय [क्षीयते] क्षय हो जाता है [तस्मात्] इसलिये [शास्त्रं] शास्त्र का [समध्येतव्यम्] सम्यक् प्रकार से अध्ययन करना चाहिये ॥८६॥

*मोहोपचय = मोह का उपचय । (उपचय = संचय; समूह)

जिनेन्द्र के शब्द ब्रह्म में अर्थों की व्यवस्था (पदार्थों की स्थिति) किस प्रकार है सो विचार करते हैं

दव्वाणि गुणा तेसिं पज्जाया अट्ठसण्णया भणिया । (87)

तेसु गुणपज्जयाणं अप्पा दव्व त्ति उवदेसो ॥94॥

द्रव्य-गुण-पर्याय ही हैं **अर्थ** सब जिनवर कहें

अर द्रव्य गुण-पर्यायमय ही भिन्न वस्तु है नहीं ॥९४॥

अन्वयार्थ : [द्रव्याणि] द्रव्य, [गुणा:] गुण [तेषां पर्याया:] और उनकी पर्यायें [अर्थसंज्ञया] 'अर्थ' नाम से [भणिता:] कही गई हैं । [तेषु] उनमें, [गुणपर्यायाणाम् आत्मा द्रव्यम्] गुण-पर्यायों का आत्मा द्रव्य है (गुण और पर्यायों का स्वरूप-सत्त्व द्रव्य ही है, वे भिन्न वस्तु नहीं हैं) [इति उपदेश:] इसप्रकार (जिनेन्द्र का) उपदेश है ॥८७॥

इस प्रकार मोहक्षय के उपायभूत जिनेश्वर के उपदेश की प्राप्ति होने पर भी पुरुषार्थ अर्थक्रियाकारी है, इसलिये पुरुषार्थ करता है

जो मोहरागदोसे णिहणदि उवलब्भ जोण्हमुवदेसं । (88)

सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥95॥

जिनदेव का उपदेश यह जो हने मोहरु क्षोभ को

वह बहुत थोड़े काल में ही सब दुखों से मुक्त हो ॥९५॥

अन्वयार्थ : [यः] जो [जैनं उपदेशं] जिनेन्द्र के उपदेश को [उपलभ्य] प्राप्त करके [मोहरागद्वेषान्] मोह-राग-द्वेष को [निहंति] हनता है, [सः] वह [अचिरेण कालेन] अल्प काल में [सर्वदुःखमोक्षं प्राप्नोति] सर्व दुःखों से मुक्त हो जाता है ॥८८॥

स्व-पर के विवेक की सिद्धि से ही मोह का क्षय हो सकता है, इसलिये स्व-पर के विभाग की सिद्धि के लिये प्रयत्न करते हैं

णाणप्पगमप्पाणं परं च दव्वत्तणाहिसंबद्धं । (89)

जाणदि जदि णिच्छयदो जो सो मोहक्खयं कुणदि ॥96॥

जो जानता ज्ञानात्मक निजरूप अर परद्रव्य को

वह नियम से ही क्षय करे दृगमोह एवं क्षोभ को ॥९६॥

अन्वयार्थ : [यः] जो [निश्चयत:] निश्चय से [ज्ञानात्मकं आत्मानं] ज्ञानात्मक ऐसे अपने को [च] और [परं] पर को [द्रव्यत्वेन अभिसंबद्धम्] निज-निज द्रव्यत्व से संबद्ध (संयुक्त) [यदि जानाति] जानता है, [सः] वह [मोह क्षयं करोति] मोह का क्षय करता है ॥८९॥

सब प्रकार से स्व-पर के विवेक की सिद्धि आगम से करने योग्य है, ऐसा उपसंहार करते हैं

तम्हा जिणमग्गादो गुणेहिं आदं परं च दव्वेसु । (90)

अभिगच्छदु णिम्मोहं इच्छदि जदि अप्पणो अप्पा ॥97॥

निर्मोह होना चाहते तो गुणों की पहिचान से

तुम भेद जानो स्व-पर में जिनमार्ग के आधार से ॥९७॥

अन्वयार्थ : [तस्मात्] इसलिये (स्व-पर के विवेक से मोह का क्षय किया जा सकता है इसलिये) [यदि] यदि [आत्मा] आत्मा [आत्मनः] अपनी [निर्मोहं] निर्मोहता [इच्छति] चाहता हो तो [जिनमार्गात्] जिनमार्ग से [गुणै:] गुणों के द्वारा [द्रव्येषु] द्रव्यों में [आत्मानं परं च] स्व

और पर को [अभिगच्छतु] जानो (अर्थात् जिनागम के द्वारा विशेष गुणों से ऐसा विवेक करो कि- अनन्त द्रव्यों में से यह स्व है और यह पर है) ॥९०॥

न्याय-पूर्वक ऐसा विचार करते हैं कि- जिनेन्द्रोक्त अर्थों के श्रद्धान बिना धर्म-लाभ (शुद्धात्म-अनुभवरूप धर्म-प्राप्ति) नहीं होता

सत्तासंबद्धेदे सविसेसे जो हि णेव सामण्णे । (91)

सद्दहदि ण सो समणो सत्तो धम्मो ण संभवदि ॥98॥

द्रव्य जो सविशेष सत्तामयी उसकी दृष्टि ना

तो श्रमण हो पर उस श्रमण से धर्म का उद्भव नहीं ॥९८॥

अन्वयार्थ : [यः हि] जो (जीव) [श्रामण्ये] श्रमणावस्था में [एतान् सत्ता-संबद्धान् सविशेषतान्] इन 'सत्तासंयुक्त' सविशेष (सामान्य-विशेष) पदार्थों की [न एव श्रद्दधाति] श्रद्धा नहीं करता, [सः] वह [श्रमण: न] श्रमण नहीं है; [ततः धर्म: न संभवति] उससे धर्म का उद्भव नहीं होता (अर्थात् उस श्रमणाभास के धर्म नहीं होता) ॥९१॥

दूसरी पातनिका - सम्यक्त्व के अभाव में श्रमण (मुनि) नहीं है, उस श्रमण से धर्म भी नहीं है । तो कैसे श्रमण हैं? एसा प्रश्न पूछने पर उत्तर देते हुए ज्ञानाधिकार का उपसंहार करते हैं

जो णिहदमोहदिट्ठी आगमकुसलो विरागचरियम्हि । (92)

अब्भुट्ठिदो महप्पा धम्मो त्ति विसेसिदो समणो ॥99॥

आगमकुशल दृगमोहहत आरुढ़ हों चारित्र में

बस उन महात्मन श्रमण को ही धर्म कहते शास्त्र में ॥९९॥

अन्वयार्थ : [यः आगमकुशल:] जो आगम में कुशल हैं, [निहतमोहदृष्टि:] जिसकी मोह-दृष्टि हत हो गई है और [विरागचरिते अभ्युत्थित:] जो वीतराग-चारित्र में आरुढ़ है, [महात्मा श्रमण:] उस महात्मा श्रमण को [धर्म: इति विशेषित:] (शास्त्र में) 'धर्म' कहा है ॥९२॥

ऐसे निश्चय रत्नत्रय परिणत महान तपोधन (मुनिराज) की जो वह भक्ति करता है, उसका फल दिखाते हैं

जो तं दिट्ठा तुट्ठो अब्भुट्ठित्ता करेदि सक्कारं ।

वंदणणमंसणादिहिं तत्तो सो धम्ममादियदि ॥100॥

देखकर संतुष्ट हो उठ नमन वन्दन जो करे

वह भव्य उनसे सदा ही सद्धर्म की प्राप्ति करे ॥१००॥

अन्वयार्थ : जो कोई उन्हें (पूर्वोक्त मुनिराज को) देखकर संतुष्ट होता हुआ वन्दन नमस्कार आदि द्वारा सत्कार करता है, वह उनसे धर्म ग्रहण करता है ॥१००॥

उस पुण्य से दूसरे भव में क्या फल होता है, यह प्रतिपादन करते हैं

तेण णरा व तिरिच्छा देविं वा माणुसिं गदिं पप्पा ।

विहविस्सरियेहिं सया संपुण्णमणोरहा होंति ॥101॥

उस धर्म से तिर्यंच नर नरसुरगति को प्राप्त कर

ऐश्वर्य-वैभववान अर पूरण मनोरथवान हों ॥१०१॥

अन्वयार्थ : मनुष्य और तिर्यंच उस पुण्य द्वारा देव या मनुष्य गति को प्राप्त कर वैभव और ऐश्वर्य से सदा परिपूर्ण मनोरथ वाले होते हैं ॥ १०१॥

अब सम्यक्त्व (अधिकार) कहते हैं -

तम्हा तस्स णमाईं किच्चा णिच्चं पि तम्मणो होज्ज ।
वोच्छामि संगहादो परमट्ठविणिच्छयाधिगमं ॥102॥
समकित सहित चारित्रयुत मुनिराज में मन जोड़कर
नमकर कहूँ संक्षेप में सम्यक्त्व का अधिकार यह ॥१०२॥
अन्वयार्थ : इसलिये उन्हे (सम्यकचारित्र युक्त पूर्वोक्त मुनिराजों को) नमस्कार करके तथा हमेशा उनमें ही मन लगाकर, संक्षेप से परमार्थ का निश्चय करानेवाला सम्यक्त्व (अधिकार) कहुंगा ॥

ज्ञेयतत्त्व का प्रज्ञापन करते हैं अर्थात् ज्ञेयतत्त्व बतलाते हैं । उसमें (प्रथम) पदार्थ का सम्यक् (यथार्थ) द्रव्यगुणपर्यायस्वरूप वर्णन करते हैं

अत्थो खलु दव्वमओ दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि । (93)
तेहिं पुणो पज्जाया पज्जयमूढा हि परसमया ॥103॥
गुणात्मक हैं द्रव्य एवं **अर्थ** हैं सब द्रव्यमय
गुण-द्रव्य से पर्यायें पर्ययमूढ़ ही हैं परसमय ॥१०३॥
अन्वयार्थ : पदार्थ वास्तव में द्रव्यमय हैं, द्रव्य गुणात्मक कहे गये हैं, द्रव्य तथा गुणों से पर्यायें होती हैं; और पर्यायमूढ जीव ही परसमय है ।

अनुषंगिक (पूर्व-गाथा के कथन के साथ सम्बन्ध वाली) ऐसी यह ही स्वसमय-परसमय की व्यवस्था (भेद) निश्चित (उसका) उपसंहार करते हैं

जे पज्जएसु णिरदा जीवा परसमइग त्ति णिद्दिट्ठा । (94)
आदसहावम्हि ठिदा ते सगसमया मुणेदव्वा ॥104॥
पर्याय में ही लीन जिय परसमय आत्मस्वभाव में
थित जीव ही हैं स्वसमय - यह कहा जिनवरदेव ने ॥१०४॥
अन्वयार्थ : जो जीव पर्यायों में लीन हैं वे परसमय हैं -ऐसा कहा गया है; जो जीव आत्म-स्वभाव में स्थित हैं वे स्वसमय जानना चाहिये ॥

द्रव्य का लक्षण बतलाते हैं

अपरिच्चत्त-सहावेणुप्पा-दव्वयधुवत्त-संबद्धं । (95)
गुणवं च सपज्जयं जं तं दव्वं ति वुच्चंति ॥105॥
निजभाव को छोड़े बिना उत्पादव्ययध्रुवयुक्त गुण-
पर्ययसहित जो वस्तु है वह द्रव्य है जिनवर कहें ॥१०५॥
अन्वयार्थ : जो स्वभाव को छोड़े बिना उत्पाद-व्यय-धौव्य संयुक्त तथा गुणयुक्त और पर्याय सहित है, वह द्रव्य है -- ऐसा जिनेन्द्र भगवान कहते हैं ।

अनुक्रम से दो प्रकार का अस्तित्व कहते हैं । स्वरूप-अस्तित्व और सादृश्य अस्तित्व । इनमें से यह स्वरूपास्तित्व का कथन है

सब्भावो हि सहावो गुणेहिं सगपज्जएहिं चित्तेहिं । (96)
दव्वस्स सव्वकालं उप्पादव्वयधुवत्तेहिं ॥106॥
गुण-चित्रमयपर्याय से उत्पादव्ययध्रुवभाव से
जो द्रव्य का अस्तित्व है वह एकमात्र स्वभाव है ॥१०६॥
अन्वयार्थ : गुणों तथा अनेक प्रकार की अपनी पर्यायों से और उत्पाद-व्यय-धौव्य रूप से सर्वकाल में द्रव्य का अस्तित्व वास्तव में (द्रव्य

का) स्वभाव है ।

यह (नीचे अनुसार) सादृश्य-अस्तित्व का कथन है

इह विविहलक्खणाणं लक्खणमेगं सदित्ति सव्वगयं । (97)

उवदिसदा खलु धम्मं जिणवरवसहेण पण्णत्तं ॥107॥

रे सर्वगत सत् एक लक्षण विविध द्रव्यों का कहा

जिनधर्म का उपदेश देते हुए जिनवरदेव ने ॥१०७॥

अन्वयार्थ : [धर्मं] धर्म का [खलु] वास्तव में [उपदिशता] उपदेश करते हुये [जिनवरवृषभेण] जिनवर-वृषभ ने [इह] इस विश्व में [विविधलक्षणानां] विविध लक्षणवाले (भिन्न भिन्न स्वरूपास्तित्व वाले सर्व) द्रव्यों का [सत् इति] 'सत्' ऐसा [सर्वगतं] सर्वगत [लक्षणं] लक्षण (सादृश्यास्तित्व) [एकं] एक [प्रज्ञप्तम्] कहा है ।

द्रव्यों से द्रव्यान्तर की उत्पत्ति होने का और द्रव्य से सत्ता का अर्थान्तरत्व होने का खण्डन करते हैं ।

दव्वं सहावसिद्धं सदिति जिणा तच्चदो समक्खादा । (98)

सिद्धं तध आगमदो णेच्छदि जो सो ही परसमओ ॥108॥

स्वभाव से ही सिद्ध सत् जिन कहा आगमसिद्ध है

यह नहीं माने जीव जो वे परसमय पहिचानिये ॥१०८॥

अन्वयार्थ : द्रव्य स्वभाव से सिद्ध और सत् है- ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने तत्त्वरूप से- वास्तविक कहा है और वह आगम से सिद्ध है-जो ऐसा स्वीकार नहीं करता, वह वास्तव में परसमय है ।

अब, यह बतलाते हैं कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक होने पर भी द्रव्य सत् है

सदवट्ठिदं सहावे दव्वं दव्वस्स जो हि परिणामो । (99)

अत्थेसु सो सहावो ठिदिसंभवणाससंबद्धो ॥109॥

स्वभाव में थित द्रव्य सत् सत् द्रव्य का परिणाम जो

उत्पादव्ययध्रुवसहित है वह ही पदार्थस्वभाव है ॥१०९॥

अन्वयार्थ : स्व भाव में स्थित द्रव्य सत् है, वास्तव में द्रव्य का जो उत्पाद-व्यय-धौव्य सहित परिणाम है-वह पदार्थों का स्वभाव है ।

अब, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का परस्पर अविनाभाव दृढ़ करते हैं

ण भवो भंगविहीणो भंगो वा णत्थि संभवविहीणो । (100)

उप्पादो वि य भंगो ण विणा धोव्वेण अत्थेण ॥110॥

भंगबिन उत्पाद ना उत्पाद बिन ना भंग हो

उत्पादव्यय हो नहीं सकते एक ध्रौव्यपदार्थ बिन ॥११०॥

अन्वयार्थ : उत्पाद व्यय रहित नही होता, व्यय उत्पाद रहित नही होता है तथा उत्पाद और व्यय धौव्य रूप पदार्थ के बिना नहीं होते हैं ।

अब, उत्पादादि का द्रव्य से अर्थान्तरत्व को नष्ट करते हैं; (अर्थात् यह सिद्ध करते हैं कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य द्रव्य से पृथक् पदार्थ नहीं हैं)

उप्पादट्ठिदिभंगा विज्जंते पज्जएसु पज्जाया । (101)

दव्वे हि संति णियदं तम्हा दव्वं हवदि सव्वं ॥111॥

पर्याय में उत्पादव्ययध्रुव द्रव्य में पर्यायें हैं

बस इसलिए तो कहा है कि वे सभी इक द्रव्य हैं ॥१११॥

अन्वयार्थ : उत्पाद -व्यय और धौव्य पर्यायों में होते हैं पर्यायें निश्चित द्रव्य में होती हैं; इसलिए वे सब द्रव्य हैं ।

अब, और भी दुसरी पद्धति से द्रव्य के साथ उत्पादि के अभेद का समर्थन करते हैं और समय भेद का निराकरण करते हैं -

समवेदं खलु दव्वं संभवठिदिणाससण्णिदट्ठेहिं । (102)

एक्कम्मि चेव समये तम्हा दव्वं खु तत्तिदयं ॥112॥

उत्पादव्ययथिति द्रव्य में समवेत हों प्रत्येक पल

बस इसलिए तो कहा है इन तीनमय हैं द्रव्य सब ॥११२॥

अन्वयार्थ : द्रव्य एक ही समय में उत्पाद-व्यय और धौव्य नामक अर्थों के साथ वास्तव में तादात्म्य सहित संयुक्त (एकमेक) है, इसलिये यह (उत्पादादि) त्रितय वास्तव में द्रव्य है ।

अब, द्रव्य के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य को अनेक द्रव्यपर्याय के द्वारा विचार करते हैं

पाडुब्भवदि य अण्णो पज्जाओ पज्जओ वयदि अण्णो । (103)

दव्वस्स तं पि दव्वं णेव पणट्ठं ण उप्पण्णं ॥113॥

उत्पन्न होती अन्य एवं नष्ट होती अन्य ही

पर्याय किन्तु द्रव्य ना उत्पन्न हो ना नष्ट हो ॥११३॥

अन्वयार्थ : द्रव्य की अन्य पर्याय उत्पन्न होती है और कोई अन्य पर्याय नष्ट होती है, फिर भी द्रव्य न तो नष्ट होता है और न उत्पन्न होता है ।

अब, द्रव्य के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य एक द्रव्य पर्याय द्वारा विचार करते हैं

परिणमदि सयं दव्वं गुणदो य गुणंतरं सद्विसिट्ठं । (104)

तम्हा गुणपज्जाया भणिया पुण दव्वमेव त्ति ॥114॥

गुण से गुणान्तर परिणमें द्रव्य स्वयं सत्ता अपेक्षा

इसलिए गुणपर्याय ही हैं द्रव्य जिनवर ने कहा ॥११४॥

अन्वयार्थ : अपनी सत्ता से अभिन्न द्रव्य स्वयं गुण से गुणान्तर रूप परिणमित होता है, इसलिये गुणपर्यायें द्रव्य ही कही गई हैं ।

अब, सत्ता और द्रव्य अर्थान्तर (भिन्न पदार्थ, अन्य पदार्थ) नहीं हैं, इस सम्बन्ध में युक्ति उपस्थित करते हैं

ण हवदि जदि सद्दव्वं असद्धुव्वं हवदि तं कहं दव्वं । (105)

हवदि पुणो अण्णं वा तम्हा दव्वं सयं सत्ता ॥115॥

यदि द्रव्य न हो स्वयं सत् तो असत् होगा नियम से

किम होय सत्ता से पृथक् जब द्रव्य सत्ता है स्वयं ॥११५॥

अन्वयार्थ : यदि द्रव्य सत् नहीं होगा, तो निश्चित असत् होगा और जो असत् होगा, वह द्रव्य कैसे होगा? और यदि वह सत्ता से भिन्न है, तो भी द्रव्य कैसे होगा; इसलिये द्रव्य स्वयं ही सत्ता है ।

अब, पृथक्त्व और अन्यत्व का लक्षण स्पष्ट करते हैं

पविभत्तपदेसत्तं पुधत्तमिदि सासणं हि वीरस्स । (106)

अण्णत्तमतब्भावो ण तब्भवं होदि कधमेगं ॥116॥

जिनवीर के उपदेश में पृथक्त्व भिन्नप्रदेशता

अतद्भाव ही अन्यत्व है तो अतत् कैसे एक हों ॥११६॥

अन्वयार्थ : भिन्न-भिन्न प्रदेशता पृथक्त्व और अतद्भाव (उसरूप नहीं होना) अन्यत्व है, जो उसरूप न हो वह एक कैसे हो सकता है? ऐसा

भगवान महावीर का उपदेश है ।

अब अतद्भाव को उदाहरण पूर्वक स्पष्ट बतलाते हैं

सद्दव्वं सच्च गुणो सच्चेव य पज्जओ त्ति वित्थारो । (107)
जो खलु तस्स अभावो सो तदभावो अतब्भावो ॥117॥
सत् द्रव्य सत् गुण और सत् पर्याय सत् विस्तार है
तदरूपता का अभाव ही तद्-अभाव अर अतद्भाव है ॥११७॥

अन्वयार्थ : सत् द्रव्य, सत् गुण और सत् पर्याय- इसप्रकार सत् का विस्तार है । (उनमे) वास्तव में जो उसका-उसरूप होने का अभाव है वह तद्भाव - अतद्भाव है ।

अब, सर्वथा अभाव अतद्भाव का लक्षण है, इसका निषेध करते हैं

जं दव्वं तं ण गुणो जो वि गुणो सो ण तच्चमत्थादो । (108)
एसो हि अतब्भावो णेव अभावो त्ति णिद्दिट्ठो ॥118॥
द्रव्य वह गुण नहीं अर गुण द्रव्य ना अतद्भाव यह
सर्वथा जो अभाव है वह नहीं अतद्भाव है ॥११८॥

अन्वयार्थ : वास्तव में जो द्रव्य है वह गुण नहीं है, जो गुण है वह द्रव्य नहीं है - यह अतद्भाव है, सर्वथा अभावरूप अतद्भाव नहीं है - ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है ।

अब, सत्ता और द्रव्य का गुण-गुणित्व सिद्ध करते हैं

जो खलु दव्वसहावो परिणामो सो गुणो सदविसिट्ठो । (109)
सदवट्ठिदं सहावे दव्वं ति जिणोवदेसोयं ॥119॥
परिणाम द्रव्य स्वभाव जो वह अपृथक् सत्ता से सदा
स्वभाव में थित द्रव्य सत् जिनदेव का उपदेश यह ॥११९॥

अन्वयार्थ : वास्तव में जो द्रव्य का स्वभावभूत (उत्पाद-व्यय-धौव्यात्मक) परिणाम है, वह सत् से अभिन्न गुण है, स्वभाव में अवस्थित द्रव्य सत् है -- ऐसा यह जिनेन्द्र-भगवान का उपदेश है ।

अब गुण और गुणी के अनेकत्व का खण्डन करते हैं

णत्थि गुणो त्ति व कोई पज्जाओ त्तीह वा विणा दव्वं । (110)
दव्वत्तं पुण भावो तम्हा दव्वं सयं सत्ता ॥120॥
पर्याय या गुण द्रव्य के बिन कभी भी होते नहीं
द्रव्य ही है भाव इससे द्रव्य सत्ता है स्वयं ॥१२०॥

अन्वयार्थ : इस विश्व में कोई भी गुण या पर्याय द्रव्य के बिना नहीं है, और द्रव्यत्व (द्रव्य का) भाव-स्वभाव है, इसलिये द्रव्य स्वयं सत्ता है ।

अब, द्रव्य के सत्-उत्पाद और असत्-उत्पाद होने में अविरोध सिद्ध करते हैं

एवंविहं सहावे दव्वं दव्वत्थपज्जयत्थेहिं । (111)
सदसब्भावणिबद्धं पादुब्भावं सदा लभदि ॥121॥
पूर्वोक्त द्रव्यस्वभाव में उत्पाद सत् नयद्रव्य से
पर्यायनय से असत् का उत्पाद होता है सदा ॥१२१॥

अन्वयार्थ : इसप्रकर सद्भाव में अवस्थित द्रव्य द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय से सद्भाव निबद्ध और असद्भावनिबद्ध उत्पाद को हमेशा प्राप्त करता है ।

अब (सर्व पर्यायों में द्रव्य अन्वय है अर्थात् वह का वही है, इसलिये उसके सत्-उत्पाद है — इसप्रकार) सत्-उत्पाद को अनन्यत्व के द्वारा निश्चित करते हैं

जीवो भवं भविस्सदि णरोऽमरो वा परो भवीय पुणो । (112)

किं दव्वत्तं पजहदि ण जहं अण्णो कहं होदि ॥122॥

परिणमित जिय नर देव हो या अन्य हो पर कभी भी

द्रव्यत्व को छोड़े नहीं तो अन्य होवे किसतरह ॥१२२॥

अन्वयार्थ : जीव परिणमित होता हुआ मनुष्य, देव अथवा अन्य (तिर्यंच, नारकी, सिद्ध) होगा । परन्तु मनुष्यादि होकर क्या वह द्रव्यत्व को छोड़ देता है ? (यदि नहीं तो) द्रव्यत्व को न छोड़ता हुआ वह अन्य कैसे हो सकता है? (नहीं हो सकता है) ।

अब, असत्-उत्पाद को अन्यत्व के द्वारा निश्चित करते हैं

मणुवो ण होदि देवो देवो वा माणुसो व सिद्धो वा । (113)

एवं अहोज्जमाणो अणण्णभावं कधं लहदि ॥123॥

मनुज देव नहीं है अथवा देव मनुजादिक नहीं

ऐसी अवस्था में कहो कि अनन्य होवे किसतरह ॥१२३॥

अन्वयार्थ : मनुष्य देव नहीं है; देव, मनुष्य अथवा सिद्ध नहीं है; ऐसा नही होने पर वह अनन्यभाव- अभिन्नता को कैसे प्राप्त कर सकता है?

अब, एक ही द्रव्य के अनन्यपना और अन्यपना होने में जो विरोध है, उसे दूर करते हैं --

दव्वट्ठिएण सव्वं दव्वं तं पज्जयट्ठिएण पुणो । (114)

हवदि य अण्णमणण्णं तक्काले तम्मयत्तादो ॥124॥

द्रव्य से है अनन्य जिय पर्याय से अन-अन्य है

पर्याय तन्मय द्रव्य से तत्समय अत: अनन्य है ॥१२४॥

अन्वयार्थ : द्रव्यार्थिकनय से सभी द्रव्य (अपनी-अपनी पर्यायों से) अनन्य हैं तथा पर्यायार्थिकनय से उससमय उस पर्याय से (द्रव्य) तन्मय होने के कारण, वह अन्य-अन्य होता है ।

अब, समस्त विरोधों को दूर करने वाली सप्तभंगी प्रगट करते हैं

अत्थि त्ति य णत्थि त्ति य हवदि अवत्तव्वमिदि पुणो दव्वं । (115)

पज्जाएण दु केण वि तदुभयमादिट्ठमण्णं वा ॥125॥

अपेक्षा से द्रव्य 'है', 'है नहीं', 'अनिर्वचनीय है'

'है, है नहीं' इसतरह ही अवशेष तीनों भंग हैं ॥१२५॥

अन्वयार्थ : द्रव्य किसी पर्याय से अस्ति, किसी पर्याय से नास्ति, किसी पर्याय से अवक्तव्य और किसी पर्याय से अस्ति-नास्ति अथवा किसी पर्याय से अन्य तीन भंग रूप कहा गया है ।

अब, जिसका निर्धारण करना है, इसलिये जिसे उदाहरणरूप बनाया गया है ऐसे जीव की मनुष्यादि पर्यायें क्रिया का फल हैं इसलिये उनका अन्यत्व (अर्थात् वे पर्यायें बदलती रहती हैं, इस प्रकार) प्रकाशित करते हैं

एसो त्ति णत्थि कोई ण णत्थि किरिया सहावणिव्वत्ता । (116)

किरिया हि णत्थि अफला धम्मो जदि णिप्फलो परमो ॥126॥
पर्याय शाश्वत नहीं परन्तु है विभावस्वभाव तो
है अफल परमधरम परन्तु क्रिया अफल नहीं कही ॥१२६॥

अन्वयार्थ : [एषः इति कश्चित् नास्ति] (मनुष्यादि पर्यायों में) 'यही' ऐसी कोई (शाश्वत पर्याय) नहीं हैं; [स्वभावनिर्वृत्ता क्रिया नास्ति न] (क्योंकि संसारी जीव के) स्वभाव-निष्पन्न क्रिया नहीं हो, सो बात नहीं है; [यदि] और यदि [परमः धर्मः निःफलः] परमधर्म अफल है तो [क्रिया हि अफला नास्ति] क्रिया अवश्य अफल नहीं है; (अर्थात् एक वीतराग भाव ही मनुष्यादि पर्यायरूप फल उत्पन्न नहीं करती; राग-द्वेषमय क्रिया तो अवश्य वह फल उत्पन्न करती है) ।

अब, यह व्यक्त करते हैं कि मनुष्यादि पर्यायें जीव को क्रिया के फल हैं

कम्मं णामसमक्खं सभावमध अप्पणो सहावेण । (117)
अभिभूय णरं तिरियं णेरइयं वा सुरं कुणदि ॥127॥
नाम नामक कर्म जिय का पराभव कर जीव को ।
नर नारकी तिर्यंच सुर पर्याय में दाखिल करे ॥१२७॥

अन्वयार्थ : [अथ] वहाँ [नामसमाख्यं कर्म] 'नाम' संज्ञावाला कर्म [स्वभावेन] अपने स्वभाव से [आत्मनः स्वभावं अभिभूय] जीव के स्वभाव का पराभव करके, [नरं तिर्यञ्चं नैरयिकं वा सुरं] मनुष्य, तिर्यंच, नारक अथवा देव (-इन पर्यायों को) [करोति] करता है ।

अब यह निर्णय करते हैं कि मनुष्यादिपर्यायों में जीव के स्वभाव का पराभव किस कारण से होता है?

णरणारयतिरियसुरा जीवा खलु णामकम्मणिव्वत्ता । (118)
ण हि ते लद्धसहावा परिणममाणा सकम्माणि ॥128॥
नाम नामक कर्म से पशु नरक सुर नर गति में ।
स्वकर्म परिणत जीव को निजभाव उपलब्धि नहीं ॥१२८॥

अन्वयार्थ : [नरनारकतिर्यक्सुराः जीवाः] मनुष्य, नारक, तिर्यंच और देवरूपजीव [खलु] वास्तव में [नामकर्म निर्वृत्ताः] नामकर्म से निष्पन्न हैं । [हि] वास्तव में [स्वकर्माणि] वे अपने कर्मरूप से [परिणममानाः] परिणमित होते हैं इसलिये [ते न लब्धस्वभावाः] उन्हें स्वभावकी उपलब्धि नहीं है ।

अब, जीव की द्रव्यरूप से अवस्थितता होने पर भी पर्यायों से अनवस्थितता (अनित्यता-अस्थिरता) प्रकाशते हैं

जायदि णेव ण णस्सदि खणभंगसमुब्भवे जणे कोई । (119)
जो हि भवो सो विलओ संभवविलय त्ति ते णाणा ॥129॥
उत्पाद-व्यय ना प्रतिक्षण उत्पादव्ययमय लोक में ।
अन-अन्य हैं उत्पाद-व्यय अर अभेद से हैं एक भी ॥१२९॥

अन्वयार्थ : [क्षणभङ्गसमुद्भवे जने] प्रतिक्षण उत्पाद और विनाशवाले जीवलोक में [कश्चित्] कोई [न एव जायते] उत्पन्न नहीं होता और [न नश्यति] न नष्ट होता है; [हि] क्योंकि [यः भवः सः विलयः] जो उत्पाद है वही विनाश है; [संभव-विलयौ इति तौ नाना] और उत्पाद तथा विनाश, इसप्रकार वे अनेक (भिन्न) भी हैं ।

अब, जीव की अनवस्थितता का हेतु प्रगट करते हैं

तम्हा दु णत्थि कोई सहावसमवट्ठिदो त्ति संसारे । (120)
संसारो पुण किरिया संसरमाणस्स दव्वस्स ॥130॥
स्वभाव से ही अवस्थित संसार में कोई नहीं ।

संसरण करते जीव की यह क्रिया ही संसार है ॥१३०॥

अन्वयार्थ : इसलिये संसार में 'स्वभाव में अवस्थित' ऐसा कोई भी नहीं है और संसार तो संसरण करते हुये (घूमते हुये) द्रव्य की क्रिया है ।

अब परिणामात्मक संसार में किस कारण से पुद्गल का संबंध होता है—कि जिससे वह (संसार) मनुष्यादि पर्यायात्मक होता है? — इसका यहाँ समाधान करते हैं

आदा कम्ममलिमसो परिणामं लहदि कम्मसंजुत्तं । (121)

तत्तो सिलिसदि कम्मं तम्हा कम्मं तु परिणामो ॥131॥

कर्ममल से मलिन जिय पा कर्मयुत परिणाम को ।

कर्मबंधन में पड़े परिणाम ही बस कर्म है ॥१३१॥

अन्वयार्थ : कर्म से मलिन आत्मा कर्म संयुक्त परिणाम को प्राप्त करता है, उससे कर्म का बन्ध होता है; इसलिये ये परिणाम ही कर्म हैं ।

अब, परमार्थ से आत्मा के द्रव्यकर्म का अकर्तृत्व प्रकाशित करते हैं

परिणामो सयमादा सा पुण किरिय त्ति होदि जीवमया । (122)

किरिया कम्म त्ति मदा तम्हा कम्मस्स ण दु कत्ता ॥132॥

परिणाम आत्मा और वह ही कही जीवमयी क्रिया ।

वह क्रिया ही है कर्म जिय द्रवकर्म का कर्ता नहीं ॥१३२॥

अन्वयार्थ : परिणाम स्वयं आत्मा है और वह क्रिया-परिणाम जीवमय है, क्रिया कर्म मानी गई है; इसलिये कर्म (द्रव्यकर्म) का कर्ता आत्मा नहीं है ।

अब, यह कहते हैं कि वह कौनसा स्वरूप है जिसरूप आत्मा परिणमित होता है?

परिणमदि चेदणाए आदा पुण चेदणा तिधाभिमदा । (123)

सा पुण णाणे कम्मे फलम्मि वा कम्मणो भणिदा ॥133॥

करम एवं करमफल अर ज्ञानमय यह चेतना ।

ये तीन इनके रूप में ही परिणमे यह आत्मा ॥१३३॥

अन्वयार्थ : आत्मा चेतना रूप से परिणमित होता है, तथा चेतना तीन प्रकार की स्वीकार की गई है । और वह ज्ञान-सम्बन्धी, कर्म-सम्बन्धी तथा कर्मफल-सम्बन्धी कही गई है ॥

अब ज्ञान, कर्म और कर्मफल का स्वरूप वर्णन करते हैं

णाणं अट्ठवियप्पो कम्मं जीवेण जं समारद्धं । (124)

तमणेगविधं भणिदं फलं ति सोक्खं व दुक्खं वा ॥134॥

ज्ञान **अर्थ**विकल्प जो जिय करे वह ही कर्म है ।

अनेकविध वह कर्म है अर करमफल सुख-दुक्ख हैं ॥१३४॥

अन्वयार्थ : अर्थ विकल्प (स्व-पर पदार्थों का भिन्नतापूर्वक एक साथ अवभासन-जानना) ज्ञान है; जीव के द्वारा जो किया जा रहा है,वह कर्म है और वह अनेक प्रकार का है; तथा सुख-दुःख को कर्मफल कहा गया है ।

अब ज्ञान, कर्म और कर्मफल को आत्मारूप से निश्चित करते हैं

अप्पा परिणामप्पा परिणामो णाणकम्मफलभावी । (125)

तम्हा णाणं कम्मं फलं च आदा मुणेदव्वो ॥135॥

आत्मा परिणाममय परिणाम तीन प्रकार हैं ।
ज्ञान कर्मरु कर्मफल परिणाम ही हैं आत्मा ॥१३५॥

अन्वयार्थ : आत्मा परिणामस्वभावी है, परिणाम ज्ञान-कर्म व कर्मफल रूप हैं; इसलिये ज्ञान, कर्म व कर्मफल आत्मा ही जानना चाहिये ।

अब, इस प्रकार ज्ञेयपने को प्राप्त आत्मा की शुद्धता के निश्चय से ज्ञानतत्त्व की सिद्धि होने पर शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि (अनुभव, प्राप्ति) होती है; इस प्रकार उसका अभिनन्दन करते हुए (अर्थात् आत्मा की शुद्धता के निर्णय की प्रशंसा करते हुए धन्यवाद देते हुए), द्रव्यसामान्य के वर्णन का उपसंहार करते हैं

कत्ता करणं कम्मं फलं च अप्प त्ति णिच्छिदो समणो । (126)
परिणमदि णेव अण्णं जदि अप्पाणं लहदि सुद्धं ॥136॥

जो श्रमण निश्चय करे कर्ता करम कर्मरु कर्मफल ।
ही जीव ना पररूप हो शुद्धात्म उपलब्धि करे ॥१३६॥

अन्वयार्थ : 'कर्ता, करण, कर्म और कर्मफल आत्मा ही है' -- ऐसा निश्चय करनेवाला श्रमण (मुनि) यदि अन्य (दूसरे) रूप से परिणमित नहीं होता है, तो शुद्धात्मा को प्राप्त करता है ।

अब, द्रव्यविशेष का प्रज्ञापन करते हैं (अर्थात् द्रव्यविशेषों को द्रव्य को भेदों को बतलाते हैं) । उसमें (प्रथम) द्रव्य के जीवाजीवपनेरूप विशेष को निश्चित करते हैं, (अर्थात् द्रव्य के जीव और अजीव-ऐसे दो भेद बतलाते हैं)

दव्वं जीवमजीवं जीवो पुण चेदणोवओगमओ । (127)
पोग्गलदव्वप्पमुहं अचेदणं हवदि य अजीवं ॥137॥

द्रव्य जीव अजीव हैं जिय चेतना उपयोगमय ।
पुद्गलादी अचेतन हैं अत:एव अजीव हैं ॥१३७॥

अन्वयार्थ : द्रव्य जीव और अजीव हैं । उनमें से चेतना उपयोगमय जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य प्रमुख अचेतन अजीव द्रव्य हैं ।

अब द्रव्य के लोकालोक स्वरूप-विशेष (भेद) निश्चित करते हैं

पोग्गलजीवणिबद्धो धम्माधम्मत्थिकायकालड्ढो । (128)
वट्टदि आगासे जो लोगो सो सव्वकाले दु ॥138॥

आकाश में जो भाग पुद्गल जीव धर्म अधर्म से ।
अर काल से समृद्ध है वह लोक शेष अलोक है ॥१३८॥

अन्वयार्थ : आकाश में जो भाग जीव और पुद्गल से संयुक्त तथा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और काल से समृद्ध है, वह सर्वकाल (हमेशा) लोक है ।

अब, 'क्रिया' रूप और 'भाव' रूप ऐसे जो द्रव्य के भाव हैं उनकी अपेक्षा से द्रव्य का भेद निश्चित करते हैं

उप्पादट्ठिदिभंगा पोग्गलजीवप्पगस्स लोगस्स । (129)
परिणामा जायंते संघादादो व भेदादो ॥139॥

जीव अर पुद्गलमयी इस लोक में परिणमन से ।
भेद से संघात से उत्पाद-व्यय-ध्रुवभाव हों ॥१३९॥

अन्वयार्थ : पुद्गल-जीवात्मक लोक में परिणमन से संघात और भेद से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होते हैं ।

अब, यह बतलाते हैं कि गुण विशेष से (गुणों के भेद से) द्रव्य विशेष (द्रव्यों का भेद) होता है

लिंगेहिं जेहिं दव्वं जीवमजीवं च हवदि विण्णादं । (130)
तेऽतब्भावविसिट्ठा मुत्तामुत्ता गुणा णेया ॥140॥
जिन चिह्नों से द्रव ज्ञात हों रे जीव और अजीव में ।
वे मूर्त और अमूर्त गुण हैं अतद्भावी द्रव्य से ॥१४०॥
अन्वयार्थ : जिन चिन्हों से जीव और अजीव द्रव्य ज्ञात होते है, वे अतद्भाव विशिष्ट (द्रव्य से अतद्भाव के द्वारा भिन्न) मूर्त और अमूर्त गुण जानना चाहिये ।

अब, मूर्त और अमूर्त गुणों के लक्षण तथा संबंध (अर्थात् उनका किन द्रव्यों के साथ संबंध है यह) कहते हैं

मुत्ता इंदियगेज्झा पोग्गलदव्वप्पगा अणेगविधा । (131)
दव्वाणममुत्तणं गुणा अमुत्ता मुणेदव्वा ॥141॥
इन्द्रियों से ग्राह्य बहुविधि मूर्त्त गुण पुद्गलमयी
अमूर्त्त हैं जो द्रव्य उनके गुण अमूर्त्तिक जानना ॥१४१॥
अन्वयार्थ : पुद्गल द्रव्यात्मक मूर्त-गुण इन्द्रियों से ग्राह्य और अनेक प्रकार के हैं तथा अमूर्त द्रव्यों के गुण अमूर्त जानना चाहिये ।

अब, मूर्त पुद्गल द्रव्य के गुण कहते हैं

वण्णरसगंधफासा विज्जंते पुग्गलस्स सुहुमादो । (132)
पुढवीपरियंतस्स य सद्दो सो पोग्गलो चित्तो ॥142॥
सूक्ष्म से पृथ्वी तलक सब पुद्गलों में जो रहें
स्पर्श रस गंध वर्ण गुण अर शब्द सब पर्याय हैं ॥१४२॥
अन्वयार्थ : सूक्ष्म से लेकर पृथ्वी पर्यन्त सर्व पुद्गल के वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श विद्यमान हैं; तथा जो शब्द है,वह पुद्गल की विविध प्रकार की पर्याय है ।

अब, शेष अमूर्त द्रव्यों के गुण कहते हैं और द्रव्य का प्रदेशवत्व और अप्रदेशवत्वरूप विशेष (भेद) बतलाते हैं

आगासस्सवगाहो धम्मद्दव्वस्स गमणहेदुत्तं । (133)
धम्मेदरदव्वस्स दु गुणो पुणो ठाणकारणदा ॥143॥
कालस्स वट्टणा से गुणोवओगो त्ति अप्पणो भणिदो । (134)
णेया संखेवादो गुणा हि मुत्तिप्पहीणाणं ॥144॥
आकाश का अवगाह धर्माधर्म के गमनागमन
स्थानकारणता कहे ये सभी जिनवरदेव ने ॥१४३॥
उपयोग आतमराम का अर वर्तना गुण काल का
है अमूर्त द्रव्यों के गुणों का कथन यह संक्षेप में ॥१४४॥ युगलम् ॥
अन्वयार्थ : आकाश का अवगाह, धर्म द्रव्य का गमनहेतुत्व, अधर्म द्रव्य का स्थिति हेतुत्व, काल का गुण वर्तना और आत्मा का गुण उपयोग कहा गया है; इसप्रकार संक्षेप से अमूर्तद्रव्यों के गुण जानना चाहिये ।

अब, यह कहते हैं कि प्रदेशवत्त्व और अप्रदेशवत्त्व किस प्रकार से संभव है

जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा पुणो य आगासं । (135)
सपदेसेहिं असंखा णत्थि पदेस त्ति कालस्स ॥145॥
हैं बहुप्रदेशी जीव पुद्गल गगन धर्माधर्म सब
है अप्रदेशी काल जिनवरदेव के हैं ये वचन ॥१४५॥

अन्वयार्थ : जीव, पुद्गलकाय, धर्म, अधर्म और आकाश अपने प्रदेशों की अपेक्षा असंख्यात (अनेक प्रदेशी) है; परन्तु काल के प्रदेश (अनेक प्रदेश) नहीं हैं ।

अब उसी अर्थ को दृढ करते हैं

एदाणि पंचदव्वाणि उज्झियकालं तु अत्थिकाय त्ति ।
भण्णंते काया पुण बहुप्पदेसाण पचयत्तं ॥146॥
कालद्रव को छोड़कर अवशेष अस्तिकाय हैं
बहुप्रदेशीपना ही है काय जिनवर ने कहा ॥१४६॥
अन्वयार्थ : काल द्रव्य को छोड़कर,ये पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं और बहुप्रदेशों के समूह को काय कहते हैं ।

अब, यह बतलाते हैं की प्रदेशी और अप्रदेशी द्रव्य कहाँ रहते हैं

लोगालोगेसु णभो धम्माधम्मेहिं आददो लोगो । (136)
सेसे पडुच्च कालो जीवा पुण पोग्गला सेसा ॥147॥
गगन लोकालोक में अर लोक धर्माधर्म से
है व्याप्त अर अवशेष दो से काल पुद्गलजीव हैं ॥१४७॥
अन्वयार्थ : आकाश लोकालोक में है, लोक धर्म और अधर्म से व्याप्त है, शेष दो द्रव्यों का आश्रय लेकर काल है, और वे शेष दो द्रव्य जीव और पुद्गल हैं ।

अब, यह कहते हैं की प्रदेशवतत्त्व और अप्रदेशवतत्त्व किस प्रकार से संभव है

जध ते णभप्पदेसा तधप्पदेसा हवंति सेसाणं । (137)
अपदेसो परमाणू तेण पदेसुब्भवो भणिदो ॥148॥
जिसतरह परमाणु से है नाप गगन प्रदेश का
बस उसतरह ही शेष का परमाणु रहित प्रदेश से ॥१४८॥
अन्वयार्थ : जैसे वे आकाश के प्रदेश हैं,वैसे ही शेष द्रव्यों के प्रदेश हैं । परमाणु अप्रदेशी है, उसके द्वारा प्रदेशों (को मापने सम्बन्धी) की उत्पत्ति कही गई है ।

अब, 'कालाणु अप्रदेशी ही है' ऐसा नियम करते हैं (अर्थात दर्शाते हैं)

समओ दु अप्पदेसो पदेसमेत्तस्स दव्वजादस्स । (138)
वदिवददो सो वट्टदि पदेसमागासदव्वस्स ॥149॥
पुद्गलाणु मंदगति से चले जितने काल में
रे एक गगनप्रदेश पर परदेश विरहित काल वह ॥१४९॥
अन्वयार्थ : [समय: तु] काल तो [अप्रदेश:] अप्रदेशी है, [प्रदेशमात्रस्य द्रव्यजातस्य] प्रदेशमात्र पुद्गल-परमाणु [आकाशद्रव्यस्य प्रदेशं] आकाश द्रव्य के प्रदेश को [व्यतिपतत:] मंद गति से उल्लंघन कर रहा हो तब [सः वर्तते] वह वर्तता है अर्थात् निमित्तभूततया परिणमित होता है ॥१३८॥

अब काल-पदार्थ के द्रव्य और पर्याय को बतलाते हैं

वदिवददो तं देसं तस्सम समओ तदो परो पुव्वो । (139)
जो अत्थो सो कालो समओ उप्पण्णपद्धंसी ॥150॥
परमाणु गगनप्रदेश लंघन करे जितने काल में

उत्पन्नध्वंसी समय परापर रहे वह ही काल है ||१५०||

अन्वयार्थ : [तं देश व्यतिपततः] परमाणु एक आकाश-प्रदेश का (मन्दगति से) उल्लंघन करता है तब [तत्सम:] उसके बराबर जो काल (लगता है) वह [समय:] 'समय' है; [तत्: पूर्व: पर:] उस (समय) से पूर्व तथा पश्चात ऐसा (नित्य) [यः अर्थ:] जो पदार्थ है [सः काल:] वह कालद्रव्य है; [समय: उत्पन्नप्रध्वंसी] समय उत्पन्न-ध्वंसी है ॥१३९॥

अब, आकाश के प्रदेश का लक्षण सूत्र द्वारा कहते हैं

आगासमणुणिविट्ठं आगासपदेससण्णया भणिदं । (140)

सव्वेसिं च अणूणं सक्कदि तं देदुमवगासं ॥151॥

अणु रहे जितने गगन में वह गगन ही परदेश है

अरे उस परदेश में ही रह सकें परमाणु सब ॥१५१॥

अन्वयार्थ : [अणुनिविष्टं आकाशं] एक परमाणु जितने आकाश में रहता है उतने आकाश को [आकाश-प्रदेशसंज्ञया] 'आकाश-प्रदेश' ऐसे नाम से [भणितम्] कहा गया है । [च] और [तत्] वह [सर्वेषां अणूनां] समस्त परमाणुओं को [अवकाशं दातुं शक्नोति] अवकाश देने को समर्थ है ॥१४०॥

अब, तिर्यकप्रचय तथा ऊर्ध्वप्रचय बतलाते हैं

एक्को व दुगे बहुगा संखातीदा तदो अणंता य । (141)

दव्वाणं च पदेसा संति हि समय त्ति कालस्स ॥152॥

एक दो या बहुत से परदेश असंख्य अनंत हैं

काल के हैं समय अर अवशेष के परदेश हैं ॥१५२॥

अन्वयार्थ : [द्रव्याणां च] द्रव्यों के [एक:] एक, [द्वौ] दो, [बहव:] बहुत से, [संख्यातीता:] असंख्य, [वा] अथवा [ततः अनन्ता: च] अनन्त [प्रदेशा:] प्रदेश [सन्ति हि] हैं । [कालस्य] काल से [समया: इति] समय हैं ॥

अब, कालपदार्थ का ऊर्ध्वप्रचय निरन्वय है, इस बात का खंडन करते हैं

उप्पादो पद्धंसो विज्जदि जदि जस्स एगसमयम्हि । (142)

समयस्स सो वि समओ सभावसमवट्ठिदो हवदि ॥153॥

इक समय में उत्पाद-व्यय यदि काल द्रव में प्राप्त हैं

तो काल द्रव्यस्वभावथित ध्रुवभावमय ही क्यों न हो ॥१५३॥

अन्वयार्थ : [यदि यस्य समयस्य] यदि काल का [एक समये] एक समय में [उत्पाद: प्रध्वंस:] उत्पाद और विनाश [विद्यते] पाया जाता है, [सः अपि समय:] तो वह भी काल [स्वभावसमवस्थित:] स्वभाव में अवस्थित अर्थात् ध्रुव [भवति] होता है ॥

अब, (जैसे एक वृत्यंश में कालपदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला सिद्ध किया है उसी प्रकार) सर्व वृत्यंशों में कालपदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला है यह सिद्ध करते हैं

एगम्हि संति समये संभवठिदिणाससण्णिदा अट्ठा । (143)

समयस्स सव्वकालं एष हि कालाणुसब्भावो ॥154॥

इक समय में उत्पाद-व्यय-ध्रुव नाम के जो **अर्थ** हैं

वे सदा हैं बस इसलिए कालाणु का सद्भाव है ॥१५४॥

अन्वयार्थ : [एकस्मिन् समये] एक-एक समय में [संभवस्थितिनाशसंज्ञिता: अर्था:] उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय नामक अर्थ [समयस्य] काल के [सर्वकालं] सदा [संति] होते हैं । [एष: हि] यही [कालाणुसद्भाव:] कालाणु का सद्भाव है; (यही कालाणु के अस्तित्व की सिद्धि है ।)

अब, कालपदार्थ के अस्तित्व अन्यथा अनुपपत्ति होने से (अन्य प्रकार से) नहीं बन सकता; इसलिये उसका प्रदेशमात्रपना सिद्ध करते हैं

जस्स ण संति पदेसा पदेसमेत्तं व तच्चदो णादुं । (144)

सुण्णं जाण तमत्थं अत्थंतरभूदमत्थीदो ॥155॥

जिस **अर्थ** का इस लोक में ना एक ही परदेश हो

वह शून्य ही है जगत में परदेश बिन न अर्थ हो ॥१५५॥

अन्वयार्थ : [यस्य] जिस पदार्थ के [प्रदेशा:] प्रदेश [प्रदेशमात्रं वा] अथवा एकप्रदेश भी [तत्त्वतः] परमार्थत: [ज्ञातुम् न संति] ज्ञात नहीं होते, [तं अर्थं] उस पदार्थ को [शून्यं जानीहि] शून्य जानो [अस्तित्वात् अर्थान्तरभूतम्] जो कि अस्तित्व से अर्थान्तरभूत (अन्य) है ।

अब, इस प्रकार ज्ञेयतत्त्व कहकर, ज्ञान और ज्ञेय के विभाग द्वारा आत्मा को निश्चित करते हुए, आत्मा को अत्यन्त विभक्त (भिन्न) करने के लिये व्यवहारजीवत्व के हेतु का विचार करते हैं

सपदेसेहिं समग्गो लोगो अट्ठेहिं णिट्ठिदो णिच्चो । (145)

जो तं जाणदि जीवो पाणचदुक्काभिसंबद्धो ॥156॥

सप्रदेशपदार्थनिष्ठित लोक शाश्वत जानिये ।

जो उसे जाने जीव वह चतुप्राण से संयुक्त है ॥१५६॥

अन्वयार्थ : [सप्रदेशै: अर्थै:] सप्रदेश पदार्थों के द्वारा [निष्ठितः] समाप्ति को प्राप्त [समग्र: लोक:] सम्पूर्ण लोक [नित्य:] नित्य है, [तं] उसे [यः जानाति] जो जानता है [जीव:] वह जीव है,— [प्राणचतुष्काभिसंबद्धः] जो कि (संसार दशा में) चार प्राणों से संयुक्त है ।

अब, प्राण कौन-कौन से हैं, सो बतलाते हैं

इंदियपाणो य तधा बलपाणो तह य आउपाणो य । (146)

आणप्पाणप्पाणो जीवाणं होंति पाणा ते ॥157॥

इन्द्रिय बल अर आयु श्वासोच्छ्वास ये ही जीव के

हैं प्राण इनसे लोक में सब जीव जीवे भव भ्रमे ॥१५७॥

अन्वयार्थ : [इन्द्रिय प्राण: च] इन्द्रिय प्राण, [तथा बलप्राण:] बलप्राण, [तथा च आयुःप्राण:] आयुप्राण [च] और [आनपानप्राण:] श्वासोच्छ्वास प्राण; [ते] ये (चार) [जीवानां] जीवों के [प्राणा:] प्राण [भवन्ति] हैं ।

अब, वे ही प्राण भेद-नय से दस प्रकार के होते हैं, ऐसा आवेदन करते हैं (मर्यादा पूर्वक ज्ञान कराते हैं) --

पंच वि इंदियपाणा मणवचिकाया य तिण्णि बलपाणा ।

आणप्पाणप्पाणो आउगपाणेण होंति दसपाणा ॥158॥

पाँच इन्द्रिय प्राण मन-वच-काय त्रय बल प्राण हैं

आयु श्वासोच्छ्वास जिनवर कहे ये दश प्राण हैं ॥१५८॥

अब, व्युत्पत्ति से प्राणों को जीवत्व का हेतुपना और उनका पौद्गलिकपना सूत्र द्वारा कहते हैं

पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीविस्सदि जो हि जीविदो पुव्वं । (147)

सो जीवो पाणा पुण पोग्गलदव्वेहिं णिव्वत्ता ॥159॥

जीव जीवे जियेगा एवं अभीतक जिया है

इन चार प्राणों से परन्तु प्राण ये पुद्गलमयी ॥१५९॥

अन्वयार्थ : [यः हि] जो [चतुर्भि: प्राणै:] चार प्राणों से [जीवति] जीता है, [जीविष्यति] जियेगा [जीवित: पूर्वं] और पहले जीता था, [सः जीव:] वह जीव है । [पुन:] फिर भी [प्राणा:] प्राण तो [पुद्गलद्रव्यै: निर्वृत्ता:] पुद्गल द्रव्यों से निष्पन्न (रचित) हैं ।

अब, प्राणों का पौद्गलिकपना सिद्ध करते हैं

जीवो पाणणिबद्धो बद्धो मोहादिएहिं कम्मेहिं । (148)
उवभुंजं कम्मफलं बज्झदि अण्णेहिं कम्मेहिं ॥160॥
मोहादि कर्मों से बंधा यह जीव प्राणों को धरे ।
अर कर्मफल को भोगता अर कर्म का बंधन करे ॥१६०॥

अन्वयार्थ : [मोहादिकैः कर्मभि:] मोहादिक कर्मों से [बद्ध:] बँधा हुआ होने से [जीव:] जीव [प्राणनिबद्ध:] प्राणों से संयुक्त होता हुआ [कर्मफलं उपभुजानः] कर्मफल को भोगता हुआ [अन्यैः कर्मभि:] अन्य कर्मों से [बध्यते] बँधता है ।

अब, प्राणों के पौद्गलिक कर्म का कारणत्व प्रगट करते हैं

पाणाबाधं जीवो मोहपदेसेहिं कुणदि जीवाणं । (149)
जदि सो हवदि हि बंधो णाणावरणादिकम्मेहिं ॥161॥
मोह एवं द्वेष से जो स्व-पर को बाधा करे
पूर्वोक्त ज्ञानावरण आदि कर्म वह बंधन करे ॥१६१॥

अन्वयार्थ : [यदि] यदि [जीव:] जीव [मोहप्रद्वेषाभ्यां] मोह और प्रद्वेष के द्वारा [जीवयो:] जीवों के (स्वजीव के तथा परजीव के) [प्राणाबाधं करोति] प्राणों को बाधा पहुँचाते हैं, [सः हि] तो पूर्वकथित [ज्ञानावरणादिकर्मभि: बंध:] ज्ञानावरणादिक कर्मों के द्वारा बंध [भवति] होता है ।

अब पौद्गलिक प्राणों की संतति की (प्रवाह-परम्परा) की प्रवृत्ति का अन्तरंग हेतु सूत्र द्वारा कहते हैं

आदा कम्ममलिमसो धरेदि पाणे पुणो पुणो अण्णे । (150)
ण चयदि जाव ममत्तिं देहपधाणेसु विसयेसु ॥162॥
ममता न छोड़े देह विषयक जबतलक यह आतमा
कर्ममल से मलिन हो पुन-पुन: प्राणों को धरे ॥१६२॥

अन्वयार्थ : [यावत्] जब तक [देहप्रधानेषु विषयेषु] देहप्रधान विषयों में [ममत्वं] ममत्व को [न त्यजति] नहीं छोड़ता, [कर्ममलीमस: आत्मा] तब तक कर्म से मलिन आत्मा [पुन: पुन:] पुनः पुन: [अन्यान् प्राणान्] अन्य-अन्य प्राणों को [धारयति] धारण करता है ॥

अब पौद्गलिक प्राणों की संतति की निवृत्ति का अन्तरङ्ग हेतु समझाते है

जो इंदियादिविजई भवीय उवओगमप्पगं झादि । (151)
कम्मेहिं सो ण रज्जदि किह तं पाणा अणुचरंति ॥163॥
उपयोगमय निज आतमा का ध्यान जो धारण करे
इन्द्रियजयी वह विरतकर्मा प्राण क्यों धारण करें ॥१६३॥

अन्वयार्थ : [यः] जो [इन्द्रियादिविजयीभूत्वा] इन्द्रियादि का विजयी होकर [उपयोगं आत्मकं] उपयोगमात्र आत्मा का [ध्यायति] ध्यान करता है, [सः] वह [कर्मभि:] कर्मों के द्वारा [न रज्यते] रंजित नहीं होता; [तं] उसे [प्राणा:] प्राण [कथं] कैसे [अनुचरंति] अनुसरण कर सकते हैं? (अर्थात् उसके प्राणों का सम्बन्ध नहीं होता ।)

अब फिर भी, आत्मा की अत्यन्त विभक्तता सिद्ध करने के लिये, व्यवहार जीवत्व के हेतु ऐसी जो गतिविशिष्ट (देव-मनुष्यादि) पर्यायों का स्वरूप कहते हैं

अत्थित्तणिच्छिदस्स हि अत्थस्सत्थंतरम्हि संभूदो । (152)
अत्थो पज्जाओ सो संठाणादिप्पभेदेहिं ॥164॥

अस्तित्व निश्चित **अर्थ** की अन्य अर्थ के संयोग से
जो अर्थ वह पर्याय जो संस्थान आदिक भेदमय ॥१६४॥
अन्वयार्थ : [अस्तित्वनिश्चितस्य अर्थस्य हि] अस्तित्व से निश्चित अर्थ का (द्रव्य का) [अर्थान्तरे सद्य:] अन्य अर्थ में (द्रव्य में) उत्पन्न [अर्थ:] जो अर्थ (भाव) [स पर्याय:] वह पर्याय है [संस्थानादिप्रभेदै:] कि जो संस्थानादि भेदों सहित होती है ।

अब पर्याय के भेद बतलाते हैं

णरणारयतिरियसुरा संठाणादीहिं अण्णहा जादा । (153)
पज्जाया जीवाणं उदयादिहिं णामकम्मस्स ॥165॥
तिर्यंच मानव देव नारक नाम नामक कर्म के
उदय से पर्याय होवें अन्य-अन्य प्रकार कीं ॥१६५॥
अन्वयार्थ : [नरनारकतिर्यक्सूरा:] मनुष्य, नारक, तिर्यंच और देव, [नामकर्मण: उदयादिभि:] नामकर्म के उदयादिक के कारण [जीवानां पर्याया:] जीवों की पर्यायें हैं,—[संस्थानादिभि:] जो कि संस्थानादि के द्वारा [अन्यथा जाता:] अन्य-अन्य प्रकार की होती हैं ।

अब, आत्मा का अन्य द्रव्य के साथ संयुक्तपना होने पर भी अर्थ निश्चायक अस्तित्व को स्व-पर विभाग के हेतु के रूप में समझाते हैं

तं सब्भावणिबद्धं दव्वसहावं तिहा समक्खादं । (154)
जाणदि जो सवियप्पं ण मुहदि सो अण्णदवियम्हि ॥166॥
त्रिधा निज अस्तित्व को जाने जो द्रव्यस्वभाव से
वह हो न मोहित जान लो अन-अन्य द्रव्यों में कभी ॥१६६॥
अन्वयार्थ : [यः] जो जीव [तं] उस (पूर्वोक्त) [सद्भावनिबद्धं] अस्तित्व निष्पन्न, [त्रिधा समाख्यातं] तीन प्रकार से कथित, [सविकल्पं] भेदों वाले [द्रव्यस्वभावं] द्रव्यस्वभाव को [जानाति] जानता है, [सः] वह [अन्यद्रव्ये] अन्य द्रव्य में [न मुह्यति] मोह को प्राप्त नहीं होता ।

अब, आत्मा को अत्यन्त विभक्त करने के लिये परद्रव्य के संयोग के कारण का स्वरूप कहते हैं

अप्पा उवओगप्पा उवओगो णाणदंसणं भणिदो । (155)
सो वि सुहो असुहो वा उवओगो अप्पणो हवदि ॥167॥
आतमा उपयोगमय उपयोग दर्शन-ज्ञान हैं
अर शुभ-अशुभ के भेद भी तो कहे हैं उपयोग के ॥१६७॥
अन्वयार्थ : [आत्मा उपयोगात्मा] आत्मा उपयोगात्मक है; [उपयोग:] उपयोग [ज्ञानदर्शनं भणित:] ज्ञान-दर्शन कहा गया है; [अपि] और [आत्मनः] आत्मा का [सः उपयोग:] वह उपयोग [शुभ: अशुभ: वा] शुभ अथवा अशुभ [भवति] होता है ।

अब कहते हैं कि इनमें कौनसा उपयोग परद्रव्य के संयोग का कारण है

उवओगो जदि हि सुहो पुण्णं जीवस्स संचयं जादि । (156)
असुहो वा तध पावं तेसिमभावे ण चयमत्थि ॥168॥
उपयोग हो शुभ पुण्यसंचय अशुभ हो तो पाप का
शुभ-अशुभ दोनों ही न हो तो कर्म का बंधन न हो ॥१६८॥
अन्वयार्थ : [उपयोग:] उपयोग [यदि हि] यदि [शुभ:] शुभ हो [जीवस्य] तो जीव के [पुण्यं] पुण्य [संचय याति] संचय को प्राप्त होता है [तथा वा अशुभ:] और यदि अशुभ हो [पापं] तो पाप संचय होता है । [तयो: अभावे] उनके (दोनों के) अभाव में [चय: नास्ति] संचय नहीं होता ।

अब शुभोपयोग का स्वरूप कहते हैं

जो जाणादि जिणिंदे पेच्छदि सिद्धे तहेव अणगारे । (157)

जीवेसु साणुकंपो उवओगो सो सुहो तस्स ॥169॥

श्रद्धान सिध-अणगार का अर जानना जिनदेव को

जीवकरुणा पालना बस यही है उपयोग शुभ ॥१६९॥

अन्वयार्थ : [यः] जो [जिनेन्द्रान्] जिनेन्द्रों को [जानाति] जानता है, [सिद्धान् तथैव अनागारान्] सिद्धों तथा अनागारों की (आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधुओं की) [पश्यति] श्रद्धा करता है, [जीवेषु सानुकम्पः] और जीवों के प्रति अनुकम्पायुक्त है, [तस्य] उसके [सः] वह [शुभ: उपयोग:] शुभ उपयोग है ।

अब अशुभोपयोग का स्वरूप कहते हैं

विसयकसाओगाढो दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्टगोट्ठिजुदो । (158)

उग्गो उम्मग्गपरो उवओगो जस्स सो असुहो ॥170॥

अशुभ है उपयोग वह जो रहे नित उन्मार्ग में

श्रवण-चिंतन-संगति विपरीत विषय-कषाय में ॥१७०॥

अन्वयार्थ : [यस्य उपयोग:] जिसका उपयोग [विषयकषायावगाढ:] विषयकषाय में अवगाढ़ (मग्न) है, [दु:श्रुतिदुश्चित्तदुष्टगोष्टियुत:] कुश्रुति, कुविचार और कुसंगति में लगा हुआ है, [उग्र:] उग्र है तथा [उन्मार्गपर:] उन्मार्ग में लगा हुआ है, [सः अशुभ:] उसका वह अशुभोपयोग है ।

अब, परद्रव्य के संयोग का जो कारण (अशुद्धोपयोग) उसके विनाश का अभ्यास बतलाते हैं

असुहोवओगरहिदो सुहोवजुत्तो ण अण्णदवियम्हि । (159)

होज्जं मज्झत्थोऽहं णाणप्पगमप्पगं झाए ॥171॥

आतमा ज्ञानात्मक अनद्रव्य में मध्यस्थ हो

ध्यावे सदा ना रहे वह नित शुभ-अशुभ उपयोग में ॥१७१॥

अन्वयार्थ : [अन्यद्रव्ये] अन्य द्रव्य में [मध्यस्थ:] मध्यस्थ [भवन्] होता हुआ [अहम्] मैं [अशुभोपयोगरहित:] अशुभोपयोग रहित होता हुआ तथा [शुभोपयुक्त: न] शुभोपयुक्त नहीं होता हुआ [ज्ञानात्मकम्] ज्ञानात्मक [आत्मकं] आत्मा को [ध्यायामि] ध्याता हूँ ।

अब शरीरादि परद्रव्य के प्रति भी मध्यस्थपना प्रगट करते हैं

णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं । (160)

कत्ता ण ण कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥172॥

देह मन वाणी न उनका करण या कर्ता नहीं

ना कराऊँ मैं कभी भी अनुमोदना भी ना करूँ ॥१७२॥

अन्वयार्थ : [अहं न देह:] मैं न देह हूँ [न मन:] न मन हूँ, [च एव] और [न वाणी] न वाणी हूँ; [तेषां कारणं न] उनका कारण नहीं हूँ [कर्ता न] कर्ता नहीं हूँ [कारयिता न] कराने वाला नहीं हूँ; [कर्तृणां अनुमन्ता न एव] (और) कर्ता का अनुमोदक नहीं हूँ ।

अब, शरीर, वाणी और मन का परद्रव्यपना निश्चित करते हैं

देहो य मणो वाणी पोग्गलदव्वप्पग त्ति णिद्दिट्ठा । (161)

पोग्गलदव्वं हि पुणो पिंडो परमाणुदव्वाणं ॥173॥

देह मन वच सभी पुद्गल द्रव्यमय जिनवर कहे

ये सभी जड़ स्कन्ध तो परमाणुओं के पिण्ड हैं ॥१७३॥

अन्वयार्थ : [देह: च मन: वाणी] देह, मन और वाणी [पुद्गलद्रव्यात्मका:] पुद्गलद्रव्यात्मक [इति निर्दिष्टा:] हैं, ऐसा (वीतरागदेव ने) कहा है [अपि पुन:] और [पुद्गल द्रव्य] वे पुद्गलद्रव्य [परमाणुद्रव्याणां पिण्ड:] परमाणुद्रव्यों का पिण्ड है ।

अब आत्मा के परद्रव्यत्व का अभाव और परद्रव्य के कर्तृत्व का अभाव सिद्ध करते हैं

णाहं पोग्गलमइओ ण ते मया पोग्गला कया पिंडं । (162)

तम्हा हि ण देहोऽहं कत्ता वा तस्य देहस्य ॥174॥

मैं नहीं पुद्गलमयी मैंने ना बनाया हैं इन्हें

मैं तन नहीं हूँ इसलिए ही देह का कर्ता नहीं ॥१७४॥

अन्वयार्थ : [अहं पुद्गलमय: न] मैं पुद्गलमय नहीं हूँ और [ते पुद्गला:] वे पुद्गल [मया] मेरे द्वारा [पिण्ड न कृता:] पिण्डरूप नहीं किये गये हैं, [तस्मात् हि] इसलिये [अहं न देह:] मैं देह नहीं हूँ [वा] तथा [तस्य देहस्य कर्ता] उस देह का कर्ता नहीं हूँ ॥

अब इस संदेह को दूर करते हैं कि 'परमाणुद्रव्यों को पिण्डपर्यायरूप परिणति कैसे होती है?'

अपदेसो परमाणू पदेसमेत्तो द समयसद्दो जो । (163)

णिद्धो वा लुक्खो वा दुपदेसादित्तमणुभवदि ॥175॥

अप्रदेशी अणु एक प्रदेशमय अर अशब्द हैं

अर रूक्षता-स्निग्धता से बहुप्रदेशीरूप हैं ॥१७५॥

अन्वयार्थ : [परमाणु:] परमाणु [यः अप्रदेश:] जो कि अप्रदेश है, [प्रदेशमात्र:] प्रदेशमात्र है [च] और [स्वयं अशब्द:] स्वयं अशब्द है, [स्निग्ध: वा रूक्ष: वा] वह स्निग्ध अथवा रूक्ष होता हुआ [द्विप्रदेशादित्वमू अनुभवति] द्विप्रदेशादिपने का अनुभव करता है ।

अब यह बतलाते हैं कि परमाणु के वह स्निग्ध-रूक्षत्व किस प्रकार का होता है

एगुत्तरमेगादी अणुस्स णिद्धत्तणं च लुक्खत्तं । (164)

परिणामादो भणिदं जाव अणंतत्तमणुभवदि ॥176॥

परमाणु के परिणमन से इक-एक कर बढ़ते हुए

अनंत अविभागी न हो स्निग्ध अर रूक्षत्व से ॥१७६॥

अन्वयार्थ : [अणो:] परमाणु के [परिणामात्] परिणमन के कारण [एकादि] एक से (एक अविभाग प्रतिच्छेद से) लेकर [एकोत्तरं] एक-एक बढ़ते हुए [यावत्] जब तक [अनन्तत्वम् अनुभवति] अनन्तपने को (अनन्त अविभागी प्रतिच्छेदत्व को) प्राप्त हो तब तक [स्निग्धत्वं वा रूक्षत्वं] स्निग्धत्व अथवा रूक्षत्व होता है ऐसा [भणितम्] (जिनेन्द्रदेव ने) कहा है ।

अब यह बतलाते हैं कि कैसे स्निग्धत्व-रूक्षत्व से पिण्डपना होता है

णिद्धा वा लुक्खा वा अणुपरिणामा समा व विसमा वा । (165)

समदो दुराधिगा जदि बज्झन्ति हि आदिपरिहीणा ॥177॥

परमाणुओं का परिणमन सम-विषम अर स्निग्ध हो

अर रूक्ष हो तो बंध हो दो अधिक पर न जघन्य हो ॥१७७॥

अन्वयार्थ : [अणुपरिणामा:] परमाणु-परिणाम, [स्निग्धा: वा रूक्षा: वा] स्निग्ध हों या रूक्ष हों [समा: विषमा: वा] सम अंश वाले हों या विषम अंश वाले हों [यदि समत: द्वधिका:] यदि समान से दो अधिक अंश वाले हों तो [बध्यन्ते हि] बँधते हैं, [आदि परिहीना:] जघन्यांश वाले नहीं बंधते ।

अब यह निश्चित करते हैं कि परमाणुओं के पिण्डत्व में यथोक्त (उपरोक्त) हेतु है

णिद्धत्तणेण दुगुणो चदुगुणणिद्धेण बंधमणुभवदि । (166)
लुक्खेण वा तिगुणिदो अणु बज्झदि पंचगुणजुत्तो ॥178॥
दो अंश चिकने अणु चिकने-रूक्ष हों यदि चार तो
हो बंध अथवा तीन एवं पाँच में भी बंध हो ॥१७८॥
अन्वयार्थ : [स्निग्धत्वेन द्विगुण:] स्निग्धरूप से दो अंशवाला परमाणु [चतुर्गुणस्निग्धेन] चार अंशवाले स्निग्ध (अथवा रूक्ष) परमाणु के साथ [बंध अनुभवति] बंध का अनुभव करता है । [वा] अथवा [रूक्षेण त्रिगुणित: अणु:] रूक्षरूप से तीन अंशवाला परमाणु [पंचगुणयुक्त:] पाँच अंशवाले के साथ युक्त होता हुआ [बध्यते] बंधता है ।

अब, आत्मा के पुद्गलों के पिण्ड के कर्तृत्व का अभाव निश्चित करते हैं

दुपदेसादी खंधा सुहुमा वा बादरा ससंठाणा । (167)
पुढविजलतेउवाऊ सगपरिणामेहिं जायंते ॥179॥
यदि बहुप्रदेशी कंध सूक्षम-थूल हों संस्थान में
तो भूजलादि रूप हों वे स्वयं के परिणमन से ॥१७९॥
अन्वयार्थ : [द्विप्रदेशादय: स्कंधा:] द्विप्रदेशादिक (दो से लेकर अनन्तप्रदेश वाले) स्कंध [सूक्ष्मा: वा बादरा:] जो कि सूक्ष्म अथवा बादर होते हैं और [ससंस्थाना:] संस्थानों (आकारों) सहित होते हैं वे [पृथिवीजलतेजोवायव:] पृथ्वी, जल, तेज और वायुरूप [स्वकपरिणामै: जायन्ते] अपने परिणामों से होते हैं ।

अब ऐसा निश्चित करते हैं कि आत्मा पुद्गलपिण्ड का लानेवाला नहीं है

ओगाढगाढणिचिदो पोग्गलकायेहिं सव्वदो लोगो । (168)
सुहुमेहिं बादरेहि य अप्पाओग्गेहिं जोग्गेहिं ॥180॥
भरा है यह लोक सूक्षम-थूल योग्य-अयोग्य जो
कर्मत्व के वे पौद्गलिक उन खंध के संयोग से ॥१८०॥
अन्वयार्थ : [लोक:] लोक [सर्वत:] सर्वत: [सूक्ष्मे: बादरै:] सूक्ष्म तथा बादर [च] और [अप्रायोग्यै: योग्यै:] कर्मत्व के अयोग्य तथा कर्मत्व के योग्य [पुद्गलकायै:] पुद्गलस्कंधों के द्वारा [अवगाढगाढनिचित:] (विशिष्ट प्रकार से) अवगाहित होकर गाढ़ (घनिष्ठ) भरा हुआ है ।

अब ऐसा निश्चित करते हैं कि आत्मा पुद्गलपिण्डों को कर्मरूप नहीं करता

कम्मत्तणपाओग्गा खंधा जीवस्स परिणइं पप्पा । (169)
गच्छंति कम्मभावं ण हि ते जीवेण परिणमिदा ॥181॥
स्कन्ध जो कर्मत्व के हों योग्य वे जिय परिणति
पाकर करम में परिणमें न परिणमावे जिय उन्हें ॥१८१॥
अन्वयार्थ : [कर्मत्वप्रायोग्या: स्कंधा:] कर्मत्व के योग्य स्कंध [जीवस्यपरिणतिं प्राप्य] जीव की परिणति को प्राप्त करके [कर्मभावं गच्छन्ति] कर्मभाव को प्राप्त होते हैं; [न हि ते जीवेन परिणमिता:] जीव उनको नहीं परिणमाता ।

अब आत्मा के कर्मरूप परिणत पुद्गलद्रव्यात्मक शरीर के कर्तत्व का अभाव निश्चित करते हैं (अर्थात् यह निश्चित करते हैं कि कर्मरूपपरिणतपुद्गलद्रव्यस्वरूप शरीर का कर्ता आत्मा नहीं है)

ते ते कम्मत्तगदा पोग्गलकाया पुणो वि जीवस्स । (170)
संजायंते देहा देहंतरसंकमं पप्पा ॥182॥
कर्मत्वगत जड़पिण्ड पुद्गल देह से देहान्तर
को प्राप्त करके देह बनते पुन-पुन: वे जीव की ॥१८२॥

अन्वयार्थ : [कर्मत्वगता:] कर्मरूप परिणत [ते ते] वे-वे [पुद्गलकाया:] पुद्गल पिण्ड [देहान्तर संक्रमं प्राप्य] देहान्तररूप परिवर्तन को प्राप्त करके [पुन: अपि] पुन:-पुन: [जीवस्य] जीव के [देहा:] शरीर [संजायन्ते] होते हैं ।

अब आत्मा के शरीरपने का अभाव निश्चित करते हैं

ओरालिओ य देहो देहो वेउव्विओ य तेजसिओ । (171)

आहारय कम्मइओ पोग्गलदव्वप्पगा सव्वे ॥183॥

यह देह औदारिक तथा हो वैक्रियक या कार्मण

तेजस अहारक पाँच जो वे सभी पुद्गलद्रव्यमय ॥१८३॥

अन्वयार्थ : [औदारिक: च देह:] औदारिक शरीर, [वैक्रियिक: देह:] वैक्रियिक शरीर, [तैजस:] तैजस शरीर, [आहारक:] आहारक शरीर [च] और [कार्मण:] कार्मण शरीर [सर्वे] सब [पुद्गलद्रव्यात्मका:] पुद्गलद्रव्यात्मक हैं ।

तब फिर जीव का, शरीरादि सर्वपरद्रव्यों से विभाग का साधनभूत, असाधारण स्वलक्षण क्या है, सो कहते हैं

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं । (172)

जाण अलिंग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥184॥

चैतन्य गुणमय आतमा अव्यक्त अरस अरूप है

जानो अलिंगग्रहण इसे यह अनिर्दिष्ट अशब्द है ॥१८४॥

अन्वयार्थ : [जीवम्] जीव को [अरस] रस-रहित [अरूपम्] रूप-रहित, [अगंधम्] गंध-रहित, [अव्यक्तम्] अव्यक्त, [चेतनागुणम्] चेतना-गुणयुक्त, [अशब्दम्] अशब्द, [अलिंगग्रहणम्] अलिंगग्रहण (लिंग द्वारा ग्रहण न होने योग्य) और [अनिर्दिष्टसंस्थानम्] जिसका कोई निश्चित संस्थान नहीं कहा गया है ऐसा [जानीहि] जानो ।

अब, अमूर्त ऐसे आत्मा के, स्निग्धरूक्षत्व का अभाव होने से बंध कैसे हो सकता है ? ऐसा पूर्व पक्ष उपस्थित करते हैं

मुत्तो रूवादिगुणो बज्झदि फासेहिं अण्णमण्णेहिं । (173)

तव्विवरीदो अप्पा बज्झदि किध पोग्गलं कम्मं ॥185॥

मूर्त पुद्गल बंधे नित स्पर्श गुण के योग से

अमूर्त आतम मूर्त पुद्गल कर्म बाँधे किसतरह ॥१८५॥

अन्वयार्थ : [मूर्त:] मूर्त (पुद्गल) तो [रूपादिगुण:] रूपादिगुणयुक्त होने से [अन्योन्यै: स्पर्शै:] परस्पर (बंधयोग्य) स्पर्शों से [बध्यते] बँधते हैं; (परन्तु) [तद्विपरीतः आत्मा] उससे विपरीत (अमूर्त) आत्मा [पौद्गलिकं कर्म] पौद्गलिक कर्म को [कथं] कैसे [बध्नाति] बाँधता है?

अब ऐसा सिद्धान्त निश्चित करते हैं कि आत्मा अमूर्त होने पर भी उसको इस प्रकार बंध होता है

रूवादिएहिं रहिदो पेच्छदि जाणादि रूवमादीणि । (174)

दव्वाणि गुणे य जधा तह बंधो तेण जाणीहि ॥186॥

जिसतरह रूपादि विरहित जीव जाने मूर्त को

बस उसतरह ही जीव बाँधे मूर्त पुद्गलकर्म को ॥१८६॥

अन्वयार्थ : [यथा] जैसे [रूपादिकै: रहित:] रूपादिरहित (जीव) [रूपादीनि] रूपादि [द्रव्याणि गुणान् च] द्रव्यों को तथा गुणों को (रूपी द्रव्यों को और उनके गुणों को) [पश्यति जानाति] देखता है और जानता है [तथा] उसी प्रकार [तेन] उसके साथ (अरूपी का रूपी के साथ) [बंध: जानीहि] बंध जानो ॥

अब भावबंध का स्वरूप बतलाते हैं

उवओगमओ जीवो मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि । (175)
पप्पा विविधे विसये जो हि पुणो तेहिं सो बन्धो ॥187॥
प्राप्त कर उपयोगमय जिय विषय विविध प्रकार के
रुष-तुष्ट होकर मुग्ध होकर विविधविध बंधन करे ॥१८७॥

अन्वयार्थ : [यः हि पुन:] जो [उपयोगमय: जीव:] उपयोगमय जीव [विविधान् विषयान्] विविध विषयों को [प्राप्य] प्राप्त करके [मुह्यति] मोह करता है, [रज्यति] राग करता है, [वा] अथवा [प्रद्वेष्टि] द्वेष करता है, [सः] वह जीव [तै:] उनके द्वारा (मोह-राग-द्वेष के द्वारा) [बन्ध:] बन्धरूप है ।

भावबंध की युक्ति और द्रव्यबन्ध का स्वरूप

भावेण जेण जीवो पेच्छदि जाणादि आगदं विसये । (176)
रज्जदि तेणेव पुणो बज्झदि कम्म त्ति उवदेसो ॥188॥
जिस भाव से आगत विषय को देखे-जाने जीव यह
उसी से अनुरक्त हो जिय विविधविध बंधन करे ॥१८८॥

अन्वयार्थ : [जीव:] जीव [येन भावेन] जिस भाव से [विषये आगत] विषयागत पदार्थ को [पश्यति जानाति] देखता है और जानता है, [तेन एव] उसी से [रज्यति] उपरक्त होता है; [पुन:] और उसी से [कर्म बध्यते] कर्म बँधता है;—[इति] ऐसा [उपदेश:] उपदेश है ।

अब पुद्गलबंध, जीवबंध और उन दोनों के बंध का स्वरूप कहते हैं

फासेहिं पोग्गलाणं बंधो जीवस्स रागमादीहिं । (177)
अण्णोण्णमवगाहो पोग्गलजीवप्पगो भणिदो ॥189॥
स्पर्श से पुद्गल बंधे अर जिय बंधे रागादि से
जीव-पुद्गल बंधे नित ही परस्पर अवगाह से ॥१८९॥

अन्वयार्थ : [स्पर्शै:] स्पर्शों के साथ [पुद्गलाना बंध:] पुद्गलों का बंध, [रागादिभि: जीवस्य] रागादि के साथ जीव का बंध और [अन्योन्यम् अवगाह:] अन्योन्य अवगाह वह [पुद्गलजीवात्मक: भणित:] पुद्गलजीवात्मक बंध कहा गया है ।

अब, ऐसा बतलाते हैं कि द्रव्यबंध का हेतु भावबंध है

सपदेसो सो अप्पा तेसु पदेसेसु पोग्गला काया । (178)
पविसंति जहाजोग्गं चिट्ठंति हि जंति बज्झंति ॥190॥
आतमा सप्रदेश है उन प्रदेशों में पुद्गला
परविष्ट हों अर बंधें अर वे यथायोग्य रहा करें ॥१९०॥

अन्वयार्थ : [सः आत्मा] वह आत्मा [सप्रदेश:] सप्रदेश है; [तेषु प्रदेशेषु] उन प्रदेशों में [पुद्गला: काया:] पुद्गलसमूह [प्रविशन्ति] प्रवेश करते हैं, [यथायोग्य तिष्ठन्ति] यथायोग्य रहते हैं, [यान्ति] जाते हैं, [च] और [बध्यन्ते] बंधते हैं ।

अब, यह सिद्ध करते हैं कि—राग परिणाममात्र जो भावबंध है सो द्रव्यबन्ध का हेतु होने से वही निश्चयबन्ध है

रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा । (179)
एसो बंधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो ॥191॥
रागी बाँधे कर्म छूटे राग से जो रहित है
यह बंध का संक्षेप है बस नियतनय का कथन यह ॥१९१॥

अन्वयार्थ : [रक्त:] रागी आत्मा [कर्म बध्याति] कर्म बाँधता है, [रागरहितात्मा] रागरहित आत्मा [कर्मभि: मुच्यते] कर्मों से मुक्त होता है;

—[एष:] यह [जीवानां] जीवों के [बंधसमास:] बन्ध का संक्षेप [निश्चयत:] निश्चय से [जानीहि] जानो ।

अब, परिणाम का द्रव्यबन्ध के साधकतम राग से विशिष्टपना सविशेष प्रगट करते हैं (अर्थात् परिणाम द्रव्यबंध के उत्कृष्ट हेतुभूत राग से विशेषता वाला होता है ऐसा भेद सहित प्रगट करते हैं)

परिणामादो बंधो परिणामो रागदोसमोहजुदो । (180)

असुहो मोहपदोसो सुहो व असुहो हवदि रागो ॥192॥

राग-रुष अर मोह ये परिणाम इनसे बंध हो

राग है शुभ-अशुभ किन्तु मोह-रुष तो अशुभ ही ॥१९२॥

अन्वयार्थ : [परिणामात् बंध:] परिणाम से बन्ध है, [परिणाम: रागद्वेषमोहयुत:] (जो) परिणाम राग-द्वेष-मोहयुक्त है । [मोहप्रद्वेषौ अशुभौ] (उनमें से) मोह और द्वेष अशुभ है, [राग:] राग [शुभ: वा अशुभ:] शुभ अथवा अशुभ [भवति] होता है ।

अब विशिष्ट परिणाम के भेद को तथा अविशिष्ट परिणाम को, कारण में कार्य का उपचार कार्यरूप से बतलाते हैं

सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावं ति भणिदमण्णेसु । (181)

परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये ॥193॥

पर के प्रति शुभभाव पुण पर अशुभ तो बस पाप है

पर दु:खक्षय का हेतु तो बस अनन्यगत परिणाम है ॥१९३॥

अन्वयार्थ : [अन्येषु] पर के प्रति [शुभ परिणाम:] शुभ परिणाम [पुण्यम्] पुण्य है, और [अशुभ:] अशुभ परिणाम [पापम्] पाप है, [इति भणितम्] ऐसा कहा है; [अनन्यगतः परिणाम:] जो दूसरे के प्रति प्रवर्तमान नहीं है ऐसा परिणाम [समये] समय पर [दुःखक्षयकारणम्] दुःखक्षय का कारण है ।

अब, जीव की स्वद्रव्य में प्रवृत्ति और परद्रव्य से निवृत्ति की सिद्धि के लिये स्व-पर का विभाग बतलाते हैं

भणिदा पुढविप्पमुहा जीवणिकायाध थावरा य तसा । (182)

अण्णा ते जीवादो जीवो वि य तेहिंदो अण्णो ॥194॥

पृथ्वी आदि थावरा त्रस कहे जीव निकाय हैं

वे जीव से हैं अन्य एवं जीव उनसे अन्य है ॥१९४॥

अन्वयार्थ : [अथ] अब [स्थावरा: च त्रसा:] स्थावर और त्रस ऐसे जो [पृथिवीप्रमुखा:] पृथ्वी आदि [जीव निकाया:] जीवनिकाय [भणिता:] कहे गये हैं [ते] वे [जीवात् अन्ये] जीव से अन्य हैं, [च] और [जीव: अपि] जीव भी [तेभ्य: अन्य:] उनसे अन्य है ।

अब, यह निश्चित करते हैं कि—जीव को स्वद्रव्य में प्रवृत्ति का निमित्त स्व-पर के विभाग का ज्ञान है, और परद्रव्य में प्रवृत्ति का निमित्त स्व-पर के विभाग का अज्ञान है

जो णवि जाणदि एवं परमप्पाणं सहावमासेज्ज । (183)

कीरदि अज्झवसाणं अहं ममेदं ति मोहादो ॥195॥

जो न जाने इसतरह स्व और पर को स्वभाव से

वे मोह से मोहित रहे 'ये मैं हूँ' अथवा 'मेरा यह' ॥१९५॥

अन्वयार्थ : [यः] जो [एवं] इस प्रकार [स्वभावम् आसाद्य] स्वभाव को प्राप्त करके (जीव-पुद्गल के स्वभाव को निश्चित करके) [परम् आत्मानं] पर को और स्व को [न एव जानाति] नहीं जानता, [मोहात्] वह मोह से [अहम्] यह मैं हूँ [इदं मम] यह मेरा है [इति] इस प्रकार [अध्यवसानं] अध्यवसान [कुरुते] करता है ।

अब, आत्मा का निश्चय से रागादि स्व-परिणाम ही कर्म है और द्रव्य-कर्म उसका कर्म नहीं है, ऐसा प्रारूपित करते हैं -- कथन करते हैं -

कुव्वं सभावमादा हवदि हि कत्ता सगस्स भावस्स । (184)

पोग्गलदव्वमयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥196॥

निज भाव को करता हुआ निजभाव का कर्ता कहा

और पुद्गल द्रव्यमय सब भाव का कर्ता नहीं ॥१९६॥

अन्वयार्थ : [स्वभाव कुर्वन्] अपने भाव को करता हुआ [आत्मा] आत्मा [हि] वास्तव में [स्वकस्य भावस्य] अपने भाव का [कर्ता भवति] कर्ता है; [तु] परन्तु [पुद्गलद्रव्यमयानां सर्वभावानां] पुद्गलद्रव्यमय सर्व भावों का [कर्ता न] कर्ता नहीं है।

अब, पुद्गलपरिणाम आत्मा का कर्म क्यों नहीं है—ऐसे सन्देह को दूर करते हैं

गेण्हदि णेव ण मुंचदि करेदि ण हि पोग्गलाणि कम्माणि । (185)

जीवो पोग्गलमज्झे वट्टण्णवि सव्वकालेसु ॥197॥

जीव पुद्गल मध्य रहते हुए पुद्गलकर्म को

जिनवर कहें सब काल में ना ग्रहे-छोड़े-परिणमे ॥१९७॥

अन्वयार्थ : [जीव:] जीव [सर्वकालेषु] सभी कालों में [पुद्गलमध्ये वर्तमान: अपि] पुद्गल के मध्य में रहता हुआ भी [पुद्गलानि कर्माणि] पौद्गलिक कर्मों को [हि] वास्तव में [गृहाति न एव] न तो ग्रहण करता है, [न मुंचति] न छोड़ता है, और [न करोति] न करता है ।

पुद्गल-परिणाम आत्मा का कर्म नहीं

स इदाणिं कत्ता सं सगपरिणामस्स दव्वजादस्स । (186)

आदीयदे कदाइं विमुच्चदे कम्मधूलीहिं ॥198॥

भवदशा में रागादि को करता हुआ यह आतमा

रे कर्मरज से कदाचित् यह ग्रहण होता छूटता ॥१९८॥

अन्वयार्थ : [सः] वह [इदानीं] अभी (संसारावस्था में) [द्रव्यजातस्य] द्रव्य से (आत्मद्रव्य से) उत्पन्न होने वाले [स्वकपरिणामस्य] (अशुद्ध) स्वपरिणाम का [कर्ता सन्] कर्ता होता हुआ [कर्मशुलभि:] कर्मरज से [आदीयते] ग्रहण किया जाता है और [कदाचित् विमुच्यते] कदाचित् छोड़ा जाता है । =

पुद्गल कर्मों की विचित्रता को कौन करता है?

परिणमदि जदा अप्पा सुहम्मि असुहम्मि रागदोसजुदो । (187)

तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादिभावेहिं ॥199॥

रागादियुत जब आतमा परिणमे अशुभ-शुभ भाव में

तब कर्मरज से आवरित हो विविध बंधन में पड़े ॥१९९॥

अन्वयार्थ : [यदा] जब [आत्मा] आत्मा [रागद्वेषयुत:] रागद्वेषयुक्त होता हुआ [शुभे अशुभे] शुभ और अशुभ में [परिणमित] परिणमित होता है, तब [कर्मरज:] कर्मरज [ज्ञानावरणादिभावै:] ज्ञानावरणादिरूप से [तं] उसमें [प्रविशति] प्रवेश करती है ।

अब, पहले (१९९वीं गाथा में) कही गई प्रकृतियों के, जघन्य अनुभाग और उत्कृष्ट अनुभाग का स्वरूप प्रतिपादित करते हैं

सुहपयडीण विसोही तिव्वो असुहाण संकिलेसम्मि ।

विवरीदो दु जहण्णो अणुभागो सव्वपयडीणं ॥200॥

विशुद्धतम परिणाम से शुभतम करम का बंध हो

संक्लेशतम से अशुभतम अर जघन हो विपरीत से ॥२००॥

अन्वयार्थ : तीव्र--अधिक विशुद्धि में शुभ-प्रकृतियों का उत्कृष्ट--तीव्र अनुभाग बन्ध और तीव्र संक्लेशता में अशुभ-प्रकृतियों का उत्कृष्ट--तीव्र अनुभाग बन्ध होता है तथा इससे विपरीत परिणामों से सभी प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बन्ध होता है ।

अकेला ही आत्मा बंध है

सपदेसो सो अप्पा कसायिदो मोहरागदोसेहिं । (188)

कम्मरएहिं सिलिट्ठो बंधो त्ति परूविदो समये ॥201॥

सप्रदेशी आतमा रुस-राग-मोह कषाययुत

हो कर्मरज से लिप्त यह ही बंध है जिनवर कहा ॥२०१॥

अन्वयार्थ : [सप्रदेश:] प्रदेशयुक्त [सः आत्मा] वह आत्मा [समये] यथाकाल [मोहरागद्वेषै:] मोह-राग-द्वेष के द्वारा [कषायित:] कषायित होने से [कर्म-रजोभि: श्लिष्ट:] कर्मरज से लिप्त या बद्ध होता हुआ [बंध इति प्ररूपित:] बंध कहा गया है ।

निश्चय और व्यवहार का अविरोध

एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयेण णिद्दिट्ठो । (189)

अरहंतेहिं जदीणं ववहारो अण्णहा भणिदो ॥202॥

यह बंध का संक्षेप जिनवरदेव ने यतिवृन्द से

नियतनय से कहा है व्यवहार इससे अन्य है ॥२०२॥

अन्वयार्थ : [एष:] यह (पूर्वोक्त प्रकार से), [जीवानां] जीवों के [बंधसमास:] बंध का संक्षेप [निश्चयेन] निश्चय से [अर्हद्भि:] अर्हन्तभगवान ने [यतीनां] यतियों से [निर्दिष्ट:] कहा है; [व्यवहार:] व्यवहार [अन्यथा] अन्य प्रकार से [भणितः] कहा है ।

अशुद्धनय से अशुद्ध आत्मा की ही प्राप्ति

ण चयदि जो दु ममत्तिं अहं ममेदं ति देहदविणेसु । (190)

सो सामण्णं चत्ता पडिवण्णो होदि उम्मग्गं ॥203॥

तन-धनादि में 'मैं हूँ यह' अथवा 'ये मेरे हैं' सही

ममता न छोड़े वह श्रमण उनमार्गी जिनवर कहें ॥२०३॥

अन्वयार्थ : [यः तु] जो [देहद्रविणेषु] देह-धनादिक में [अहं मम इदम्] 'मैं यह हूँ और यह मेरा है' [इति ममतां] ऐसी ममता को [न त्यजति] नहीं छोड़ता, [सः] वह [श्रामण्यं त्यक्त्वा] श्रमणता को छोड़कर [उन्मार्गं प्रतिपन्न: भवति] उन्मार्ग का आश्रय लेता है ।

शुद्धनय से शुद्धात्मा की ही प्राप्ति

णाहं होमि परेसिं ण मे परे संति णाणमहमेक्को । (191)

इदि जो झायदि झाणे सो अप्पाणं हवदि झादा ॥204॥

पर का नहीं ना मेरे पर मैं एक ही ज्ञानात्मा

जो ध्यान में इस भाँति ध्यावे है वही शुद्धात्मा ॥२०४॥

अन्वयार्थ : '[अहं परेषां न भवामि] मैं पर का नहीं हूँ [परे मे न सन्ति] पर मेरे नहीं हैं, [ज्ञानम् अहम् एक:] मैं एक ज्ञान हूँ,' [इति यः ध्यायति] इस प्रकार जो ध्यान करता है, [सः ध्याता] वह ध्याता [ध्याने] ध्यानकाल में [आत्मा भवति] आत्मा होता है ।

शुद्धात्मा ही उपलब्ध करने योग्य क्यों?

एवं णाणप्पाणं दंसणभूदं अदिंदियमहत्थं । (192)

धुवमचलमणालंबं मण्णेऽहं अप्पगं सुद्धं ॥205॥

इसतरह मैं आतमा को ज्ञानमय दर्शनमयी
ध्रुव अचल अवलंबन रहित इन्द्रियरहित शुध मानता ॥२०५॥
अन्वयार्थ : [अहम्] मैं [आत्मकं] आत्मा को [एवं] इस प्रकार [ज्ञानात्मानं] ज्ञानात्मक, [दर्शनभूतम्] दर्शनभूत, [अतीन्द्रियमहार्थं] अतीन्द्रिय महा पदार्थ [ध्रुवम्] ध्रुव, [अचलम्] अचल, [अनालम्बं] निरालम्ब और [शुद्धम्] शुद्ध [मन्ये] मानता हूँ ।

दूसरा कुछ भी उपलब्ध करने योग्य क्यों नहीं?

देहा वा दविणा वा सुहदुक्खा वाध सत्तुमित्तजणा । (193)
जीवस्स ण संति धुवा धुवोवओगप्पगो अप्पा ॥206॥
अरि-मित्रजन धन्य-धान्य सुख-दुख देह कुछ भी ध्रुव नहीं
इस जीव के ध्रुव एक ही उपयोगमय यह आतमा ॥२०६॥
अन्वयार्थ : [देहा: वा] शरीर, [द्रविणानि वा] धन, [सुखदुःखे] सुख-दुःख [वा अथ] अथवा [शत्रुमित्रजना:] शत्रुमित्रजन (यह कुछ) [जीवस्य] जीव के [ध्रुवा: न सन्ति] ध्रुव नहीं हैं; [ध्रुव:] ध्रुव तो [उपयोगात्मक: आत्मा] उपयोगात्मक आत्मा है ।

शुद्धात्मा की उपलब्धि से क्या होता है?

जो एवं जाणित्ता झादि परं अप्पगं विसुद्धप्पा । (194)
सागारोऽणगारो खवेदि सो मोहदुग्गंठि ॥207॥
यह जान जो शुद्धातमा ध्यावें सदा परमातमा
दुठ मोह की दुर्ग्रन्थि का भेदन करें वे आतमा ॥२०७॥
अन्वयार्थ : [यः] जो [एवं ज्ञात्वा] ऐसा जानकर [विशुद्धात्मा] विशुद्धात्मा होता हुआ [परमात्मानं] परम आत्मा का [ध्यायति] ध्यान करता है, [सः] वह [साकार: अनाकार:] साकार हो या अनाकार [मोहदुर्ग्रंथि] मोहदुर्ग्रंथि का [क्षपयति] क्षय करता है ।

मोहग्रंथि टूटने से क्या होता है?

जो णिहदमोहगंठी रागपदोसे खवीय सामण्णे । (195)
होज्जं समसुहदुक्खो सो सोक्खं अक्खयं लहदि ॥208॥
मोहग्रन्थी राग-रुष तज सदा ही सुख-दु:ख में
समभाव हो वह श्रमण ही बस अखयसुख धारण करें ॥२०८॥
अन्वयार्थ : [यः] जो [निहतमोहग्रंथी] मोहग्रंथि को नष्ट करके, [रागप्रद्वेषौ क्षपयित्वा] रागद्वेष का क्षय करके, [समसुख दुःख:] समसुख-दुःख होता हुआ [श्रामण्ये भवेत्] श्रमणता (मुनित्व) में परिणमित होता है, [सः] वह [अक्षयं सौख्यं] अक्षय सौख्य को [लभते] प्राप्त करता है ।

ध्यान आत्मा में अशुद्धता नहीं लाता

जो खविदमोहकलुसो विसयविरत्तो मणो णिरुंभित्ता । (196)
समवट्ठिदो सहावे सो अप्पाणं हवदि झादा ॥209॥
आत्मध्याता श्रमण वह इन्द्रियविषय जो परिहरे
स्वभावथित अवरुद्ध मन वह मोहमल का क्षय करे ॥२०९॥
अन्वयार्थ : [यः] जो [क्षपितमोहकलुषः] मोहमल का क्षय करके, [विषयविरक्त:] विषय से विरक्त होकर, [मन: निरुध्य] मन का निरोध करके, [स्वभावे समवस्थित:] स्वभाव में समवस्थित है, [सः] वह [आत्मानं] आत्मा का [ध्याता भवति] ध्यान करने वाला है ।

सकलज्ञानी क्या ध्याते हैं?

णिहदघणघादिकम्मो पच्चक्खं सव्वभावतच्चण्हू । (197)
णेयंतगदो समणो झादि कमट्ठं असंदेहो ॥210॥
घन घातिकर्म विनाश कर प्रत्यक्ष जाने सभी को
संदेहविरहित ज्ञेय ज्ञायक ध्यावते किस वस्तु को ॥२१०॥
अन्वयार्थ : [निहतघनघातिकर्मा] जिनने घनघातिकर्म का नाश किया है, [प्रत्यक्षं सर्वभावतत्वज्ञ:] जो सर्व पदार्थों के स्वरूप को प्रत्यक्ष जानते हैं और [ज्ञेयान्तगतः] जो ज्ञेयों के पार को प्राप्त हैं, [असंदेह: श्रमण:] ऐसे संदेह रहित श्रमण [कम् अर्थं] किस पदार्थ को [ध्यायति] ध्याते हैं?

सकलज्ञानी परम सौख्य का ध्यान करता है

सव्वाबाधविजुत्तो समंतसव्वक्खसोक्खणाणड्ढो । (198)
भूदो अक्खातीदो झादि अणक्खो परं सोक्खं ॥211॥
अतीन्द्रिय जिन अनिन्द्रिय अर सर्व बाधा रहित हैं
चहुँ ओर से सुख-ज्ञान से समृद्ध ध्यावे परमसुख ॥२११॥
अन्वयार्थ : [अनक्षः अनिन्द्रिय] और [अक्षातीत: भूत:] इन्द्रियातीत हुआ आत्मा [सर्वाबाधवियुक्त:] सर्व बाधा रहित और [समंतसर्वाक्षसौख्यज्ञानाढ:] सम्पूर्ण आत्मा में समंत (सर्वप्रकार के, परिपूर्ण) सौख्य तथा ज्ञान से समृद्ध वर्तता हुआ [परं सौख्यं] परम सौख्य का [ध्यायति] ध्यान करता है ।

शुद्ध आत्मा की उपलब्धि मोक्ष का मार्ग

एवं जिणा जिणिंदा सिद्धा मग्गं समुट्ठिदा समणा । (199)
जादा णमोत्थु तेसिं तस्स य णिव्वाणमग्गस्स ॥212॥
निर्वाण पाया इसी मग से श्रमण जिन जिनदेव ने
निर्वाण अर निर्वाणमग को नमन बारंबार हो ॥२१२॥
अन्वयार्थ : [जिना: जिनेन्द्रा: श्रमणा:] जिन, जिनेन्द्र और श्रमण (अर्थात् सामान्यकेवली, तीर्थंकर और मुनि) [एवं] इस [पूर्वोक्त ही] प्रकार से [मार्गं समुत्थिता:] मार्ग में आरूढ़ होते हुए [सिद्धा: जाता:] सिद्ध हुए [तेभ्य:] उन्हें [च] और [तस्मै निर्वाण मार्गाय] उस निर्वाणमार्ग को [नमोऽस्तु] नमस्कार हो ।

मैं (आचार्यदेव) स्वयं भी शुद्धात्मप्रवृत्ति करता हूँ

तम्हा तह जाणित्ता अप्पाणं जाणगं सभावेण । (200)
परिवज्जामि ममत्तिं उवट्ठिदो णिम्ममत्तम्हि ॥213॥
इसलिए इस विधि आतमा ज्ञायकस्वभावी जानकर
निर्ममत्व में स्थित मैं सदा ही भाव ममता त्याग कर ॥२१३॥
अन्वयार्थ : [तस्मात्] ऐसा होने से (अर्थात् शुद्धात्मा में प्रवृत्ति के द्वारा ही मोक्ष होता होने से) [तथा] इस प्रकार [आत्मानं] आत्मा को [स्वभावेन ज्ञायकं] स्वभाव से ज्ञायक [ज्ञात्वा] जानकर [निर्ममत्वे उपस्थित:] मैं निर्ममत्व में स्थित रहता हुआ [ममतां परिवर्जयामि] ममता का परित्याग करता हूँ ।

मध्य-मंगल

दंसणसंसुद्धाणं सम्मण्णाणोवजोगजुत्ताणं ।
अव्वाबाधरदाणं णमो णमो सिद्धसाहूणं ॥214॥
सुशुद्धदर्शनज्ञानमय उपयोग अन्तरलीन जिन

बाधारहित सुखसहित साधु सिद्ध को शत्-शत् नमन ॥२१४॥

अन्वयार्थ : दर्शन से संशुद्ध, सम्यग्ज्ञान और उपयोग से सहित निर्बाध-रूप से स्वरूप-लीन सिद्ध-साधुओं को बारम्बार नमस्कर हो ।

श्रमणार्थी की भावना

एवं पणमिय सिद्धे जिणवरवसहे पुणो पुणो समणे । (201)

पडिवज्जदु सामण्णं जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्खं ॥215॥

हे भव्यजन ! यदि भवदुखों से मुक्त होना चाहते।

परमेष्ठियों को कर नमन श्रामण्य को धारण करो ॥२०१॥

अन्वयार्थ : [यदि दु:खपरिमोक्षम् इच्छति] यदि दुःखों से परिमुक्त होने की (छुटकारा पाने की) इच्छा हो तो, [एवं] पूर्वोक्त प्रकार से (ज्ञानतत्त्व-प्रज्ञापन की प्रथम तीन गाथाओं के अनुसार) [पुन: पुन:] बारंबार [सिद्धान्] सिद्धों को, [जिनवरवृषभान्] जिनवरवृषभों को (अर्हन्तों को) तथा [श्रमणान्] श्रमणों को [प्रणम्य] प्रणाम करके, [श्रामण्य प्रतिपद्यताम्] (जीव) श्रामण्य को अंगीकार करो ॥२०१॥

श्रमणार्थी पहले क्या-क्या करता है?

आपिच्छ बंधुवग्गं विमोचिदो गुरुकलत्तपुत्तेहिं । (202)

आसिज्ज णाणदंसणचरित्ततववीरियायारं ॥216॥

वृद्धजन तिय-पुत्र-बंधुवर्ग से ले अनुमति ।

वीर्य-दर्शन-ज्ञान-तप-चारित्र अंगीकार कर ॥२०२॥

अन्वयार्थ : (श्रामण्यार्थी) [बन्धुवर्गम् आपृच्छ्य] बंधु-वर्ग से विदा माँगकर [गुरुकलत्रपुत्रै: विमोचित:] बडों से, स्त्री और पुत्र से मुक्त किया हुआ [ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारम् आसाद्य] ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार को अंगीकार करके........ ॥२०२॥

दीक्षार्थी भव्य जैनाचार्य का आश्रय लेता है

समणं गणिं गुणड्ढं कुलरूववयोविसिट्ठमिट्ठदरं । (203)

समणेहि तं पि पणदो पडिच्छ मं चेदि अणुगहिदो ॥217॥

रूप कुल वयवान गुणमय श्रमणजन को इष्ट जो ।

ऐसे गणी को नमन करके शरण ले अनुग्रहित हो ॥२०३॥

अन्वयार्थ : [श्रमणं] जो श्रमण है, [गुणाढ्यं] गुणाढ्य है, [कुलरूपवयो विशिष्टं] कुल, रूप तथा वय से विशिष्ट है, और [श्रमणै: इष्टतरं] श्रमणों को अति इष्ट है [तम् अपि गणिनं] ऐसे गणी को [माम् प्रतीच्छ इति] 'मुझे स्वीकार करो' ऐसा कहकर [प्रणत:] प्रणत होता है (प्रणाम करता है) [च] और [अनुग्रहीत:] अनुगृहीत होता है ॥२०३॥

गुरु द्वारा स्वीकृत श्रमणार्थी की अवस्था कैसी?

णाहं होमि परेसिं ण मे परे णत्थि मज्झमिह किंचि । (204)

इदि णिच्छिदो जिदिंदो जादो जधजादरूवधरो ॥218॥

रे दूसरों का मैं नहीं ना दूसरे मेरे रहे।

संकल्प कर हो जितेन्द्रिय नग्नता को धारण करें ॥२०४॥

अन्वयार्थ : [अहं] मैं [परेषां] दूसरों का [न भवामि] नहीं हूँ [परे मे न] पर मेरे नहीं हैं, [इह] इस लोक में [मम] मेरा [किंचित्] कुछ भी [न अस्ति] नहीं है - [इति निश्चित:] ऐसा निश्चयवान् और [जितेन्द्रिय:] जितेन्द्रिय होता हुआ [यथाजातरूपधर:] यथाजातरूपधर (सहजरूपधारी) [जात:] होता है ॥२०४॥

श्रमण-लिंग का स्वरूप

जधजादरूवजादं उप्पाडिदकेसमंसुगं सुद्धं । (205)

रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं ॥219॥

मुच्छारंभविजुत्तं जुत्तं उवओगजोगसुद्धीहिं । (206)

लिंगं ण परावेक्खं अपुणब्भवकारणं जेण्हं ॥220॥

शृंगार अर हिंसा रहित अर केश लुंचन अकिंचन ।

यथाजातस्वरूप ही जिनवरकथित बहिर्लिंग है ॥२०५॥

आरंभ-मूर्छा से रहित पर की अपेक्षा से रहित ।

शुधयोग अरउपयोग से जिनकथित अंतर लिंग है॥२०६॥

अन्वयार्थ : [यथाजातरूपजातम्] जन्मसमय के रूप जैसा रूप-वाला, [उत्पाटितकेशश्मश्रुकं] सिर और दाढी-मूछ के बालों का लोंच किया हुआ, [शुद्धं] शुद्ध (अकिंचन), [हिंसादितः रहितम्] हिंसादि से रहित और [अप्रतिकर्म] प्रतिकर्म (शारीरिक श्रंगार) से रहित - [लिंगं भवति] ऐसा (श्रामण्य का बहिरंग) लिंग है ।

[मूर्च्छारम्भवियुक्तम्] मूर्च्छा (ममत्व) और आरम्भ रहित, [उपयोगयोगशुद्धिभ्यांयुक्तं] उपयोग और योग की शुद्धि से युक्त तथा [न परापेक्षं] पर की अपेक्षा से रहित -- ऐसा [जैनं] जिनेन्द्रदेव कथित [लिंगम्] (श्रामण्य का अंतरंग) लिंग है [अपुनर्भवकारणम्] जो कि मोक्ष का कारण है ।

अब इन दोनों लिंगों को ग्रहणकर पहले भावि नैगमनय से कहे गये पंचाचार के स्वरूप को अब स्वीकार कर उसके आधार से उपस्थित स्वस्थ-स्वरूप लीन होकर वह श्रमण होता है ऐसा प्रसिद्ध करते हैं -

आदाय तं पि लिंगं गुरुणा परमेण तं णमंसित्ता । (207)

सोच्चा सवदं किरियं उवट्ठिदो होदि सो समणो ॥221॥

जो परम गुरु नम लिंग दोनों प्राप्त कर व्रत आचरें ।

आत्मथित वे श्रमण ही बस यथायोग्य क्रिया करें ॥२०७॥

अन्वयार्थ : [परमेण गुरुणा] परम गुरु के द्वारा प्रदत्त [तदपि लिंगम्] उन दोनों लिंगों को [आदाय] ग्रहण करके, [सं नमस्कृत्य] उन्हें नमस्कार करके [सव्रतां क्रियां श्रुत्वा] व्रत सहित क्रिया को सुनकर [उपस्थित:] उपस्थित (आत्मा के समीप स्थित) होता हुआ [सः] वह [श्रमण: भवति] श्रमण होता है ॥२०७॥

अब, जब विकल्प रहित सामायिक संयम से च्युत होता है, तब विकल्प सहित छेदोपस्थापन चारित्र को स्वीकार करता है, ऐसा कथन करते हैं -

वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सयमचेलमण्हाणं । (208)

खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेगभत्तं च ॥222॥

एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता । (209)

तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि ॥223॥

व्रत समिति इन्द्रिय रोध लुंचन अचेलक अस्नान व्रत ।

ना दन्त-धोवन क्षिति-शयन अरे खड़े हो भोजन करें ॥२०८॥

दिन में करें इकबार ही ये मूलगुण जिनवर कहें।

इनमें रहे नित लीन जो छेदोपथापक श्रमण वह ॥२०९॥

अन्वयार्थ : [व्रतसमितीन्द्रियरोधः] व्रत, समिति, इन्द्रियरोध, [लोचावश्यकम्] लोच, आवश्यक, [अचेलम्] अचेलपना, [अस्नानं] अस्नान, [क्षितिशयनम्] भूमिशयन, [अदंतधावनं] अदंतधोवन, [स्थितिभोजनम्] खड़े-खड़े भोजन, [च] और [एकभक्तं] एक बार आहार - [एते]

ये [खलु] वास्तव में [श्रमणानां मूलगुणा:] श्रमणों के मूलगुण [जिनवरै: प्रज्ञप्ता:] जिनवरों ने कहे हैं; [तेषु] उनमें [प्रमत्त:] प्रमत्त होता हुआ [श्रमण:] श्रमण [छेदोपस्थापक: भवति] छेदोपस्थापक होता है ॥२०८-२०९॥

अब इन मुनिराज के दीक्षा देनेवाले गुरु के समाननिर्यापक नामक दूसरे भी गुरु हैं इसप्रकार गुरु व्यवस्था का निरूपण करते हैं -

लिंगग्गहणे तेसिं गुरु त्ति पव्वज्जदायगो होदि । (210)
छेदेसूवट्ठवगा सेसा णिज्जवगा समणा ॥224॥
दीक्षा गुरु जो दे प्रव्रज्या दो भेदयुत जो छेद है ।
छेदोपथापक शेष गुरु ही कहे हैं निर्यापका ॥२१०॥

अन्वयार्थ : [लिंगग्रहणे] लिंग-ग्रहण के समय [प्रव्रज्यादायक: भवति] जो प्रव्रज्या (दीक्षा) दायक हैं वह [तेषां गुरु: इति] उनके गुरु हैं और [छेदयों: उपस्थापका:] जो *छेदद्वय में उपस्थापक हैं (अर्थात् १. जो भेदों में स्थापित करते हैं तथा २. जो संयम में छेद होने पर पुन: स्थापित करते हैं) [शेषा: श्रमणा:] वे शेष श्रमण [निर्यापका:] *निर्यापक हैं ॥२१०॥

*छेदद्वय = दो प्रकार के छेद । यहाँ (१) संयम में जो २८ मूलगुण-रूप भेद होते हैं उसे भी छेद कहा है और (२) खण्डन अथवा दोष को भी छेद कहा है

*निर्यापक = निर्वाह करनेवाला; सदुपदेश से दृढ़ करने वाला; शिक्षागुरु, श्रुतगुरु

अब पहले (२२४ वीं) गाथा में कहे गये दोनो प्रकार के छेदक का प्रायश्चित्त विधान कहते हैं -

पयदम्हि समारद्धे छेदो समणस्स कायचेट्ठम्हि । (211)
जायदि जदि तस्स पुणो आलोयणपुव्विया किरिया ॥225॥
छेदुवजुत्तो समणो समणं ववहारिणं जिणमदम्हि । (212)
आसेज्जालोचित्ता उवदिट्ठं तेण कायव्वं ॥226॥
यदि यत्नपूर्वक रहें पर देहिक क्रिया में छेद हो ।
आलोचना द्वारा अरे उसका करें परिमार्जन ॥२११॥
किन्तु यदि यति छेद में उपयुक्त होकर भ्रष्ट हों ।
तो योग्य गुरु के मार्गदर्शन में करें आलोचना ॥२१२॥

अन्वयार्थ : [यदि] यदि [श्रमणस्य] श्रमण के [प्रयतायां] प्रयत्न-पूर्वक [समारब्धायां] की जाने-वाली [कायचेष्टायां] काय-चेष्टा में [छेद: जायते] छेद होता है तो [तस्य पुन:] उसे तो [आलोचनापूर्विका क्रिया] १आलोचना-पूर्वक क्रिया करना चाहिये ।
[श्रमण: छेदोपयुक्त:] (किन्तु) यदि श्रमण छेद में उपयुक्त हुआ हो तो उसे [जिनमत] जैनमत में [व्यवहारिणं] व्यवहार-कुशल [श्रमणं आसाद्य] श्रमण के पास जाकर [आलोच्य] २आलोचना करके (अपने दोष का निवेदन करके), [तेन उपदिष्टं] वे जैसा उपदेश दें वह [कर्तव्यम्] करना चाहिये ॥२११-२१२॥

१आलोचना = सूक्ष्मता से देख लेना वह, सूक्ष्मता से विचारना वह, ठीक ध्यान में लेना वह
२निवेदन; कथन ।

अब विकार रहित श्रामण्य में छेद को उत्पन्न करनेवाले पर द्रव्यों के सम्बन्ध का निषेध करते हैं -

अधिवासे व विवासे छेदविहूणो भवीय सामण्णे । (213)
समणो विहरदु णिच्चं परिहरमाणो णिबंधाणि ॥227॥
हे श्रमणजन! अधिवास में या विवास में बसते हुए ।
प्रतिबंध के परिहार पूर्वक छेद विरहित ही रहो ॥२१३॥

अन्वयार्थ : [अधिवासे] अधिवास में (आत्म-वास में अथवा गुरुओं के सहवास में) वसते हुए [वा] या [विवासे] विवास में (गुरुओं से भिन्न वास में) वसते हुए, [नित्यं] सदा [निबंधान्] (परद्रव्य-सम्बन्धी) प्रतिबंधों को [परिहरमाण:] परिहरण करता हुआ [श्रामण्ये] श्रामण्य में [छेदविहीन: भूत्वा] छेद-विहीन होकर [श्रमण: विहरतु] श्रमण विहरो ॥२१३॥

अब श्रमणता की परिपूर्ण कारणता होने से अपने शुद्धात्मद्रव्य में हमेशा स्थिति करना चाहिये, ऐसा प्रसिद्ध करते हैं-

चरदि णिबद्धो णिच्चं समणो णाणम्हि दंसणमुहम्हि । (214)
पयदो मूलगुणेसु य जो सो पडिपुण्णसामण्णो ॥228॥
रे ज्ञान-दर्शन में सदा प्रतिबद्ध एवं मूल गुण।
जो यत्नत: पालन करें बस हैं वही पूरण श्रमण ॥२१४॥

अन्वयार्थ : [यः श्रमण:] जो श्रमण [नित्यं] सदा [ज्ञाने दर्शनमुखे] ज्ञान में और दर्शनादि में [निबद्ध:] प्रतिबद्ध [च] तथा [मूलगुणेषु प्रयत:] मूलगुणों में प्रयत (प्रयत्नशील) [चरति] विचरण करता है, [सः] वह [परिपूर्णश्रामण्य:] परिपूर्ण श्रामण्यवान् है ॥२१४॥

अब, श्रमणता के छेद की कारणता होने से प्रासुक आहार आदि में भी ममत्व का निषेध करते हैं -

भत्ते वा खमणे वा आवसधे वा पुणो विहारे वा । (215)
उवधिम्हि वा णिबद्धं णेच्छदि समणम्हि विकधम्हि ॥229॥
आवास में उपवास में आहार विकथा उपधि में
श्रमणजन व विहार में प्रतिबंध न चाहें श्रमण ॥२१५॥

अन्वयार्थ : [भक्ते वा] मुनि आहार में, [क्षपणे वा] क्षपण में (उपवास में), [आवसथे वा] आवास में (निवास-स्थान में), [पुन: विहारे वा] और विहार में [उपधौ] उपधि में (परिग्रह में), [श्रमणे] श्रमण में (अन्य मुनि में) [वा] अथवा [विकथायाम्] विकथा में [निबद्धं] प्रतिबन्ध [न इच्छति] नहीं चाहता ॥२१५॥

अब शुद्धोपयोगरूप भावना को रोकनेवाले छेद को कहते हैं -

अपयत्ता वा चरिया सयणासणठाणचंकमादीसु । (216)
समणस्स सव्वकाले हिंसा सा संतय त्ति मदा ॥230॥
शयन आसन खड़े रहना गमन आदिक क्रिया में ।
यदि अयत्नाचार है तो सदा हिंसा जानना ॥२१६॥

अन्वयार्थ : [श्रमणस्य] श्रमण के [शयनासनस्थानचंक्रमणादिषु] शयन, आसन (बैठना), स्थान (खड़े रहना), गमन इत्यादि में [अप्रयता वा चर्या] जो अप्रयत चर्या है [सा] वह [सर्वकाले] सदा [संतता हिंसा इति मता] सतत हिंसा मानी गई है ।

अब अन्तरंग-बहिरंग हिंसारूप से दो प्रकार के छेद को प्रसिद्ध करते हैं

मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा । (217)
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥231॥
प्राणी मरें या ना मरें हिंसा अयत्नाचार से ।
तब बंध होता है नहीं जब रहें यत्नाचार से ॥२१७॥

अन्वयार्थ : [जीव:] जीव [म्रियतां वा जीवतु वा] मरे या जिये, [अयताचारस्य] अयत्नाचारी (अप्रयत आचार वाले) के [हिंसा] (अंतरंग) हिंसा [निश्चिता] निश्चित है; [प्रयतस्य समितस्य] प्रयत के, समितिवान् के [हिंसामात्रेण] (बहिरंग) हिंसामात्र से [बन्ध:] बंध [नास्ति] नहीं है ।

अब उसी अर्थ को दृष्टान्त और दार्ष्टान्त द्वारा दृढ़ करते हैं -

उच्चालियम्हि पाए इरियासमिदस्स णिग्गमत्थाए ।
आबाधेज्ज कुलिंगं मरिज्ज तं जोगमासेज्ज ॥232॥
ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमो य देसिदो समये ।
मुच्छा परिग्गहो च्चिय अज्झप्पपमाणदो दिट्ठो ॥233॥
हो गमन ईर्यासमिति से पर पैर के संयोग से ।
हों जीव बाधित या मरण हो फिर भी उनके योग से ॥२३२॥
ना बंध हो उस निमित्त से ऐसा कहा जिनशास्त्र में ।
क्योंकि मूर्च्छा परिग्रह अध्यात्म के आधार में ॥२३३॥

अन्वयार्थ : ईर्या समिति से चलते हुये मुनिराज के, कहीं जाने के लिये उठाये हुये पैर के निमित्त से, किसी छोटे-प्राणी को बाधा पहुँचने या उसके मर जाने पर भी, उन मुनिराज के उस हिंसा के निमित्त से किंचित् मात्र भी बन्ध, आगम में नहीं कहा है । अध्यात्म-प्रमाण से मूर्च्छा को ही परिग्रह कहे गये के समान ।

अब, निश्चय हिंसारूप अन्तरंग छेद, पूर्णरूप से निषेध करने योग्य है; ऐसा उपदेश देते हैं-

अयदाचारो समणो छस्सु वि कायेसु वधकरो त्ति मदो । (218)
चरदि जदं जदि णिच्चं कमलं व जले णिरुवलेवो ॥234॥
जलकमलवत निर्लेप हैं जो रहें यत्नाचार से ।
पर अयत्नाचारि तो षट्काय के हिंसक कहे ॥२१८॥

अन्वयार्थ : [अयताचार: श्रमण:] अप्रयत आचारवाला श्रमण [षट्सु अपि कायेषु] छहों काय संबंधी [वधकर:] वध का करने वाला [इति मत:] मानने में—कहने में आया है; [यदि] यदि [नित्यं] सदा [यतं चरति] प्रयतरूप से आचरण करे तो [जले कमलम् इव] जल में कमल की भाँति [निरुपलेप:] निर्लेप कहा गया है ।

अब बाह्य में जीव का घात होने पर बन्ध होता है, अथवा नहीं होता है; परन्तु परिग्रह होने पर नियम से बन्ध होता है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं -

हवदि व ण हवदि बंधो मदम्हि जीवेऽध कायचेट्ठम्हि । (219)
बंधो धुवमुवधीदो इदि समणा छड्डिया सव्वं ॥235॥
बंध हो या न भी हो जिय मरे तन की क्रिया से ।
पर परिग्रह से बंध हो बस उसे छोड़े श्रमणजन ॥२१९॥

अन्वयार्थ : [अथ] अब (उपधि के संबंध में ऐसा है कि), [कायचेष्टायाम्] कायचेष्टापूर्वक [जीवे मृते] जीव के मरने पर [बन्ध:] बंध [भवति] होता है [वा] अथवा [न भवति] नहीं होता; (किन्तु) [उपधे:] उपधि से-परिग्रह से [ध्रुवम् बंध:] निश्चय ही बंध होता है; [इति] इसलिये [श्रमणा:] श्रमणों (अर्हन्तदेवों) ने [सर्वं] सर्व परिग्रह को [त्यक्तवन्तः] छोड़ा है ।

निरपेक्ष त्याग से ही कर्मक्षय

ण हि णिरवेक्खो चागो ण हवदि भिक्खुस्स आसयविसुद्धी । (220)
अविसुद्धस्स य चित्ते कहं णु कम्मक्खओ विहिदो ॥236॥
यदि भिक्षु के निरपेक्ष न हो त्याग तो शुद्धि न हो ।
तो कर्मक्षय हो किसतरह अविशुद्ध भावों से कहो ॥२२०॥

अन्वयार्थ : [निरपेक्ष: त्याग: न हि] यदि निरपेक्ष (किसी भी वस्तु की अपेक्षारहित) त्याग न हो तो [भिक्षो:] भिक्षु के [आशयविशुद्धि:]

भाव की विशुद्धि [न भवति] नहीं होती; [च] और [चित्ते अविशुद्धस्य] जो भाव में अविशुद्ध है उसके [कर्मक्षय:] कर्मक्षय [कथं नु] कैसे [विहित:] हो सकता है?

परिग्रह त्याग

गेण्हदि व चेलखंडं भायणमत्थि त्ति भणिदमिह सुत्ते ।
जदि सो चत्तालंबो हवदि कहं वा अणारंभो ॥237॥
वत्थक्खंडं दुद्दियभायणमण्णं च गेण्हदि णियदं ।
विज्जदि पाणारंभो विक्खेवो तस्स चित्तम्मि ॥238॥
गेण्हइ विधुणइ धोवइ सोसेइ जदं तु आदवे खित्ता ।
पत्तं व चेलखंडं बिभेदि परदो य पालयदि ॥239॥
वस्त्र बर्तन यति रखें यदि यह किसी के सूत्र में ।
ही कहा हो तो बताओ यति निरारंभी किसतरह ॥२३७॥
रे वस्त्र बर्तन आदि को जो ग्रहण करता है श्रमण ।
नित चित्त में विक्षेप प्राणारंभ नित उसके रहे ॥२३८॥
यदि वस्त्र बर्तन ग्रहे धोवे सुखावे रक्षा करें।
खो न जावे डर सतावे सतत ही उस श्रमण को ॥२३९॥
अन्वयार्थ : यदि यहाँ किसी आगम में 'साधु वस्त्र को ग्रहण करता है, उसके बर्तन भी होते हैं --' ऐसा कहा गया है, तो वह निरालम्ब अथवा अनारम्भ कैसे हो सकता है ? ॥२३७॥
वस्त्र के टुकडे को, दूध के लिए पात्र को तथा अन्य वस्तुओं को यदि वह ग्रहण करता है तो उसके हमेशा प्राणारम्भ (जीवों का घात) और चित्त में विक्षेप बना रहता है ॥२३८॥
वह बर्तन अथवा वस्त्र को ग्रहण करता है, धूल साफ करता है, धोता है और सावधानी पूर्वक धूप में सुखाता है, दूसरों से डरता है और उनकी रक्षा करता है ॥२३९॥

सपरिग्रह के नियम से चित्त-शुद्धि नष्ट

किध तम्हि णत्थि मुच्छा आरंभो वा असंजमो तस्स । (221)
तध परदव्वम्मि रदो कधमप्पाणं पसाधयदि ॥240॥
उपधि के सद्भाव में आरंभ मूर्च्छा असंयम ।
हो फिर कहो परद्रव्यरत निज आत्म साधे किसतरह ? ॥२२१॥
अन्वयार्थ : [तस्मिन्] उपधि के सद्भाव में [तस्य] उस (भिक्षु) के [मूर्च्छा] मूर्छा, [आरम्भ:] आरंभ [वा] या [असंयम:] असंयम [नास्ति] न हो [कथं] यह कैसे हो सकता है? [तथा] तथा [परद्रव्ये रत:] जो परद्रव्य में रत हो वह [आत्मानं] आत्मा को [कथं] कैसे [प्रसाधयति] साध सकता है?

अपवाद-संयम

छेदो येन न विद्यते ग्रहणविसर्गेषु सेवमानस्य । (222)
समणो तेणिह वट्टदु कालं खेत्तं वियाणित्ता ॥241॥
छेद न हो जिसतरह आहार लेवे उसतरह ।
हो विसर्जन निहार का भी क्षेत्र काल विचार कर ॥२२२॥
अन्वयार्थ : [ग्रहणविसर्गेषु] जिस उपधि के (आहार-नीहारादि के) ग्रहण-विसर्जन में सेवन करने में [येन] जिससे [सेवमानस्य] सेवन

करने वाले के [छेद:] छेद [न विद्यते] नहीं होता, [तेन] उस उपधियुक्त, [काल क्षेत्रं विज्ञाय] काल क्षेत्र को जानकर, [इह] इस लोक में [श्रमण:] श्रमण [वर्तताम्] भले वर्ते ।

उपकरण का स्वरूप

अप्पडिकुट्ठं उवधिं अपत्थणिज्जं असंजदजणेहिं । (223)
मुच्छादिजणणरहिदं गेण्हदु समणो जदि वि अप्पं ॥242॥
मूर्छादि उत्पादन रहित चाहे जिसे न असंयमी ।
अत्यल्प हो ऐसी उपधि ही अनिंदित अनिषिद्ध है ॥२२३॥
अन्वयार्थ : [यद्यपि अल्पम्] भले ही अल्प हो तथापि, [अप्रतिक्रुष्टम्] जो अनिंदित हो, [असंयतजनै: अप्रार्थनीयं] असंयतजनों में अप्रार्थनीय हो और [मूर्च्छादिजनन रहितं] जो मूर्च्छादि की जननरहित हो [उपधि] ऐसी ही उपधि को [श्रमण:] श्रमण [गृह्णतु] ग्रहण करो ।

उपकरण अशक्य अनुष्ठान हैं

किं किंचण त्ति तक्कं अपुणब्भवकामिणोध देहे वि । (224)
संग त्ति जिणवरिंदा अप्पडिकम्मत्तमुद्दिट्ठा ॥243॥
जब देह भी है परिग्रह उसको सजाना उचित ना ।
तो किसतरह हो अन्य सब जिनदेव ने ऐसा कहा ॥२२४॥
अन्वयार्थ : [अथ] जब कि [जिनवरेन्द्रा:] जिनवरेन्द्रों ने [अपुनर्भवकामिन:] मोक्षाभिलाषी के, [संग: इति] 'देह परिग्रह है' ऐसा कहकर [देहे अपि] देह में भी [अप्रतिकर्मत्वम्] अप्रतिकर्मपना (संस्काररहितपना) [उद्दिष्टवन्त:] कहा (उपदेशा) है, तब [किं किंचनम् इति तर्क:] उनका यह (स्पष्ट) आशय है कि उसके अन्य परिग्रह तो कैसे हो सकता है?

स्त्री पर्याय से मुक्ति का निराकरण

पेच्छदि ण हि इह लोगं परं च समणिंददेसिदो धम्मो ।
धम्मम्हि तम्हि कम्हा वियप्पियं लिंगमित्थीणं ॥244॥
लोक अर परलोक से निरपेक्ष है जब यह धरम ।
पृथक् से तब क्यों कहा है नारियों के लिंग को ॥२४४॥
अन्वयार्थ : मुनिराजों के इन्द्र--जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहा गया धर्म, इस लोक और परलोक की अपेक्षा नहीं करता है, तब इस धर्म में स्त्रियों के लिंग को भिन्न क्यों कहा गया है?
णिच्छयदो इत्थीणं सिद्धी ण हि तेण जम्मणा दिट्ठा ।
तम्हा तप्पडिरूवं वियप्पियं लिंगमित्थीणं ॥245॥
नारियों को उसी भव में मोक्ष होता ही नहीं ।
आवरणयुत लिंग उनको इसलिए ही कहा है ॥२४५॥
अन्वयार्थ : निश्चय से उसी भव में, स्त्रियों का मोक्ष नहीं देखा गया है, इसलिए स्त्रियों के आवरण सहित पृथक चिन्ह कहा गया है ॥२४५॥
पइडीपमादमइया एदासिं वित्ति भासिया पमदा ।
तम्हा ताओ पमदा पमादबहुला त्ति णिद्दिट्ठा ॥246॥
प्रकृतिजन्य प्रमादमय होती है उनकी परिणति ।
प्रमाद बहुला नारियों को इसलिए प्रमदा कहा ॥२४६॥
अन्वयार्थ : स्वभाव से उनकी परिणति प्रमादमयी होती है, इसलिए उन्हें प्रमदा कहा गया है, और इसलिए वे प्रमाद बहुल-प्रमाद की अधिकता वाली कही गई हैं ॥२४६॥

संति धुवं पमदाणं मोहपदोसा भयं दुगुंछा य ।
चित्ते चित्ता माया तम्हा तासिं ण णिव्वाणं ॥247॥
नारियों के हृदय में हो मोह द्वेष भय घृणा ।
माया अनेक प्रकार की बस इसलिए निर्वाण ना ॥२४७॥
अन्वयार्थ : स्त्रियों के मन में मोह, प्रद्वेष, भय, ग्लानि और विचित्र प्रकार की माया निश्चित होती है; इसलिए उन्हें मोक्ष नहीं है ॥२४७॥
ण विणा वट्टदि णारी एक्कं वा तेसु जीवलोयम्हि ।
ण हि संउडं च गत्तं तम्हा तासिं च संवरणं ॥248॥
एक भी है दोष ना जो नारियों में नहीं हो ।
अंग भी ना ढके हैं अतएव आवरणी कही ॥२४८॥
अन्वयार्थ : इस जीव-लोक में नारी एक भी दोष के बिना नहीं है, तथा उसके अंग भी संवृत (ढंके हुए) नहीं हैं, इसलिए उनके आवरण (वस्त्र) हैं ॥२४८॥
चित्तस्सावो तासिं सित्थिल्लं अत्तवं च पक्खलणं ।
विज्जदि सहसा तासु अ उप्पादो सुहममणुआणं ॥249॥
चित्त चंचल शिथिल तन अर रक्त आवे अचानक ।
और उनके सूक्ष्म मानव सदा ही उत्पन्न हो ॥२४९॥
अन्वयार्थ : स्त्रियों के चित्त में चंचलता और उनमें शिथिलता होती है, तथा अचानक (ऋतु समय में) रक्त प्रवाहित होता है और उनमें सूक्ष्म मनुष्यों की उत्पत्ति होती है ॥२४९॥
लिंगम्हि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खपदेसेसु ।
भणिदो सुहुमुप्पादो तासिं कह संजमो होदि ॥250॥
योनि नाभि काँख एवं स्तनों के मध्य में ।
सूक्ष्म जीव उत्पन्न होते रहें उनके नित्य ही ॥२५०॥
अन्वयार्थ : स्त्रियों के लिंग में (योनी-स्थान) में, स्तनान्तर (दोनों स्तनों के बीच के स्थान में), नाभि में और कक्ष (कांख) स्थान में सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति कही गई है; ऐसा होने पर उनमें संयम कैसे हो सकता है ? ॥२५०॥
जदि दंसणेण सुद्धा सुत्तज्झयणेण चावि संजुत्ता ।
घोरं चरदि व चरियं इत्थिस्स ण णिज्जरा भणिदा ॥251॥
अरे दर्शन शुद्ध हो अर सूत्र अध्ययन भी करें ।
घोर चारित्र आचरे पर न नारियों के निर्जरा ॥२५१॥
अन्वयार्थ : यदि स्त्री सम्यग्दर्शन से शुद्ध हो, आगम के अध्ययन से भी सहित हो तथा घोर चारित्र का भी आचरण करती हो, तो भी स्त्री के (सम्पूर्ण कर्मों की) निर्जरा नहीं कही गई है ॥२५१॥
तम्हा तं पडिरूवं लिंगं तासिं जिणेहिं णिद्दिट्ठं ।
कुलरूववओजुत्ता समणीओ तस्समाचारा ॥252॥
इसलिए उनके लिंग को बस सपट ही जिनवर कहा ।
कुलरूप वययुत विज्ञ श्रमणी कही जाती आर्यिका ॥२५२॥
अन्वयार्थ : इसलिए जिनेन्द्र भगवान ने, उन स्त्रियों का चिन्ह वस्त्र सहित कहा है; कुल, रूप, वय से सहित अपने योग्य आचार का पालन करतीं हुईं वे, श्रमणी--आर्यिका कहलाती हैं ॥२५२॥

दीक्षाग्रहण में वर्ण व्यवस्था

वण्णेसु तीसु एक्को कल्लाणंगो तवोसहो वयसा ।

सुमुहो कुच्छारहिदो लिंगग्गहणे हवदि जोग्गो ॥253॥
त्रिवर्णी नीरोग तप के योग्य वय से युक्त हों ।
सुमुख निन्दा रहित नर ही दीक्षा के योग्य हैं ॥२५३॥
अन्वयार्थ : तीन वर्णों में से कोई एक वर्ण वाला, निरोग शरीरी, वय से तपश्चरण को सहन करने वाला, सुन्दर मुखवाला, लोक की निंदा से रहित पुरुष दीक्षा ग्रहण के योग्य होता है ॥२५३॥

निश्चयनय का अभिप्राय

जो रयणत्तयणासो सो भंगो जिणवरेहिं णिद्दिट्ठो ।
सेसं भंगेण पुणो ण होदि सल्लेहणा अरिहो ॥254॥
रत्नत्रय का नाश ही है भंग जिनवर ने कहा ।
भंगयुत हो श्रमण तो सल्लेखना के योग्य ना ॥२५४॥
अन्वयार्थ : जो रत्नत्रय का नाश है, उसे जिनेन्द्र भगवान ने भंग कहा है; तथा शेष भंग द्वारा वह सल्लेखना के योग्य नहीं होता है ॥२५४॥

उपकरण रूप अपवाद व्याख्यान का विशेष

उवयरणं जिणमग्गे लिंगं जहजादरूवमिदि भणिदं । (225) ।
गुरुवयणं पि य विणओ सुत्तचझयणं च णिद्दिट्ठं ॥255॥
जन्मते शिशुसम नगन तन विनय अर गुरु के वचन ।
आगम पठन हैं उपकरण जिनमार्ग का ऐसा कथन ॥२२५॥
अन्वयार्थ : [यथाजातरूपं लिंगं] यथाजातरूप (जन्मजात-नग्न) जो लिंग वह [जिनमार्गे] जिनमार्ग में [उपकरणं इति भणितम्] उपकरण कहा गया है, [गुरुवचनं] गुरु के वचन, [सूत्राध्ययनं च] सूत्रों का अध्ययन [च] और [विनय: अपि] विनय भी [निर्दिष्टम्] उपकरण कही गई है ।

युक्त आहार-विहार

इहलोगणिरावेक्खो अप्पडिबद्धो परम्हि लोयम्हि । (226)
जुत्ताहारविहारो रहिदकसाओ हवे समणो ॥256॥
इहलोक से निरपेक्ष यति परलोक से प्रतिबद्ध ना ।
अर कषायों से रहित युक्ताहार और विहार में ॥२२६॥
अन्वयार्थ : [श्रमण:] श्रमण [रहितकषाय:] कषायरहित वर्तता हुआ [इहलोक निरापेक्षः] इस लोक में निरपेक्ष और [परस्मिन् लोके] परलोक में [अप्रतिबद्ध:] अप्रतिबद्ध होने से [युक्ताहारविहार: भवेत्] युक्ताहार-विहारी होता है ।

प्रमाद

कोहादिएहिं चउहिं वि विकहाहिं तहिंदियाणमत्थेहिं ।
समणो हवदि पमत्तो उवजुत्तो णेहणिद्दाहिं ॥257॥
चार विकथा कषाय और इन्द्रियों के विषय में ।
रत श्रमण निद्रा-नेह में प्रमत्त होता है श्रमण ॥२५७॥
अन्वयार्थ : चार प्रकार के क्रोधादि से, चार प्रकार की विकाथाओं से, उसीप्रकार इन्द्रियों के विषयों से, स्नेह और निद्रा से उपयुक्त होता हुआ श्रमण प्रमत्त होता है ।

युक्ताहार-विहार

जस्स अणेसणमप्पा तं पि तवो तप्पडिच्छगा समणा । (227)
अण्णं भिक्खमणेसणमध ते समणा अणाहारा ॥258॥
अरे भिक्षा मुनिवरों की ऐषणा से रहित हो।
वे यतीगण ही कहे जाते हैं अनाहारी श्रमण ॥२२७॥
अन्वयार्थ : [यस्य] आत्मा [अनेषण:] जिसका आत्मा एषणारहित है (अर्थात् जो अनशनस्वभावी आत्मा का ज्ञाता होने से स्वभाव से ही आहार की इच्छा से रहित है) [तत् अपि तप:] उसे वह भी तप है; (और) [तत्यत्येषका:] उसे प्राप्त करने के लिये (अनशन स्वभाव वाले आत्मा को परिपूर्णतया प्राप्त करने के लिये) प्रयत्न करने वाले [श्रमणा:] श्रमणों के [अन्यत् भैक्षम्] अन्य (स्वरूप से पृथक्) भिक्षा [अनेषणम्] एषणारहित (एषणदोष से रहित) होती है; [अथ] इसलिए [ते श्रमणा:] वे श्रमण [अनाहारा:] अनाहारी हैं।
केवलदेहो समणो देहे ण ममत्ति रहिदपरिकम्मो । (228)
आजुत्तो तं तवसा अणिगूहिय अप्पणो सत्तिं ॥259॥
तनमात्र ही है परिग्रह ममता नहीं है देह में ।
शृंगार बिन शक्ति छुपाए बिना तप में जोड़ते ॥२२८॥
अन्वयार्थ : [केवलदेह: श्रमण:] केवलदेही (जिसके मात्र देहरूप परिग्रह वर्तता है, ऐसे) श्रमण ने [देहे] शरीर में भी [न मम इति] 'मेरा नहीं है' ऐसा समझकर [रहितपरिकर्मा] परिकर्म (श्रंगार) रहित वर्तते हुए, [आत्मनः] अपने आत्मा की [शक्तिं] शक्ति को [अनिगूह्य] छुपाये बिना [तपसा] तप के साथ [तं] उसे (शरीर को) [आयुक्तवान्] युक्त किया (जोड़ा) है ।

युक्ताहारत्व का विस्तार

एक्कं खलु तं भत्तं अप्पडिपुण्णोदरं जहालद्धं । (229)
चरणं भिक्खेण दिवा ण रसावेक्खं ण मधुमंसं ॥260॥
इकबार भिक्षाचरण से जैसा मिले मधु-मांस बिन ।
अधपेट दिन में लें श्रमण बस यही युक्ताहार है ॥२२९॥
अन्वयार्थ : [खलु] वास्तव में [सः भक्त:] वह आहार (युक्ताहार) [एक:] एक बार [अप्रतिपूर्णोदर:] ऊनोदर [यथालब्ध:] यथालब्ध (जैसा प्राप्त हो वैसा), [भैक्षाचरणेन] भिक्षाचरण से, [दिवा] दिन में [न रसापेक्षः] रस की अपेक्षा से रहित और [न मधुमास:] मधु-मांस रहित होता है ।

मांस के दोष

पक्केसु अ आमेसु अ विपच्चमाणासु मंसपेसीसु ।
संतत्तियमुववादो तज्जादीणं णिगोदाणं ॥261॥ ।
जो पक्कमपक्कं वा पेसीं मंसस्स खादि फासदि वा ।
सो किल णिहणदि पिंडं जीवाणमणेगकोडीणं ॥262॥
पकते हुए अर पके कच्चे माँस में उस जाति के ।
सदा ही उत्पन्न होते हैं निगोदी जीव वस ॥२६१॥
जो पके कच्चे माँस को खावें छुयें वे नारी-नर ।
जीवजन्तु करोड़ों को मारते हैं निरन्तर ॥२६२॥
अन्वयार्थ : पके, कच्चे अथवा पकते हुए मांस के टुकड़ों में, उसी जाति के निगोदिया जीव हमेशा उत्पन्न होते रहते हैं ।
जो पके अथवा बिना पके मांस के टुकड़ों को खाता है अथवा स्पर्श करता है, वह वास्तव में अनेक करोड़ जीवों के समूह का घात करता है ।

हाथ में आया हुआ प्रासुक आहार भी देय नहीं

अप्पडिकुट्ठं पिंडं पाणिगयं णेव देयमण्णस्स ।

दत्ता भोत्तुमजोग्गं भुत्तो वा होदि पडिकुट्ठो ॥263॥

जिनागम अविरुद्ध जो आहार होवे हस्तगत ।

नहीं देवे दूसरों को दे तो प्रायश्चित योग्य है ॥२६३॥

अन्वयार्थ : हाथ में आया हुआ आगम से अविरुद्ध आहार दूसरों को नहीं देना चाहिए, देकर वह भोजन करने योग्य नहीं रहता, फिर भी यदि वह भोजन करता है, तो प्रायश्चित्त के योग्य है ।

सापेक्ष उत्सर्ग और अपवाद से चारित्र की रक्षा

बालो वा वुड्ढो वा समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा । (230)

चरियं चरदु सजोग्गं मूलच्छेदो जधा ण हवदि ॥264॥

मूल का न छेद हो इस तरह अपने योग्य ही ।

वृद्ध बालक श्रान्त रोगी आचरण धारण करें ॥२३०॥

अन्वयार्थ : [बाल: वा] बाल, [वृद्धः वा] वृद्ध [श्रमाभिहत: वा] श्रांत [पुन: ग्लानः वा] या ग्लान श्रमण [मूलच्छेद:] मूल का छेद [यथा न भवति] जैसा न हो उस प्रकार से [स्वयोग्यां] अपने योग्य [चर्यां चरतु] आचरण आचरो ।

उत्सर्ग और अपवाद में विरोध से असंयम

आहारे व विहारे देसं कालं समं खमं उवधिं । (231)

जाणित्ता ते समणो वट्टदि जदि अप्पलेवी सो ॥265॥

श्रमण श्रम क्षमता उपधि लख देश एवं काल को ।

जानकर वर्तन करे तो अल्पलेपी जानिये ॥२३१॥

अन्वयार्थ : [यदि] यदि [श्रमण:] श्रमण [आहारे वा विहारे] आहार अथवा विहार में [देशं] देश, [कालं] काल, [श्रमं] श्रम, [क्षमां] क्षमता तथा [उपधिं] उपधि, [तान् ज्ञात्वा] इनको जानकर [वर्तते] प्रवर्ते [सः अल्पलेप:] तो वह अल्पलेपी होता है ।

आगम के परिज्ञान से ही एकाग्रता

एयग्गदो समणो एयग्गं णिच्छिदस्स अत्थेसु । (232)

णिच्छित्ती आगमदो आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा ॥266॥

स्वाध्याय से जो जानकर निज **अर्थ** में एकाग्र हैं ।

भूतार्थ से वे ही श्रमण स्वाध्याय ही बस श्रेष्ठ है ॥२३२॥

अन्वयार्थ : [श्रमण:] श्रमण [ऐकाग्रगतः] एकाग्रता को प्राप्त होता है; [ऐकाग्र] एकाग्रता [अर्थेषु निश्चितस्य] पदार्थों के निश्चयवान् के होती है; [निश्चिति:] (पदार्थों का) निश्चय [आगमत:] आगम द्वारा होता है; [ततः] इसलिये [आगमचेष्टा] आगम में व्यापार [ज्येष्ठा] मुख्य है ।

आगम के परिज्ञान से हीन के कर्मों का क्षय नहीं

आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि । (233)

अविजाणंतो अत्थे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू ॥267॥

जो श्रमण आगमहीन हैं वे स्व-पर को नहिं जानते ।

वे कर्म क्षय कैसे करें जो स्व-पर को नहिं जानते ॥२३३॥

अन्वयार्थ : [आगमहीन:] आगमहीन [श्रमण:] श्रमण [आत्मानं] आत्मा को (निज को) और [परं] पर को [न एव विजानाति] नहीं जानता; [अर्थात् अविजानन्] पदार्थों को नहीं जानता हुआ [भिक्षु:] भिक्षु [कर्माणि] कर्मों को [कथं] किस प्रकार [क्षपयति] क्षय करे?

अब मोक्षमार्ग चाहने वालों को आगम ही दृष्टि-आँख है, ऐसा प्रसिद्ध करते हैं -

आगमचक्खू साहू इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि । (234)
देवा य ओहिचक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खु ॥268॥
साधु आगम चक्षु इन्द्रिय चक्षु तो सब लोक है ।
देव अवधिचक्षु अर सर्वात्मचक्षु सिद्ध हैं ॥२३४॥

अन्वयार्थ : [साधु:] साधु [आगमचक्षु:] आगमचक्षु (आगमरूप चक्षु वाले) हैं, [सर्वभूतानि] सर्वप्राणी [इन्द्रिय चक्षूंषि] इन्द्रिय चक्षु वाले हैं, [देवा: च] देव [अवधिचक्षुषः] अवधिचक्षु हैं [पुन:] और [सिद्धा:] सिद्ध [सर्वत: चक्षुषः] सर्वत:चक्षु (सर्व ओर से चक्षु वाले अर्थात् सर्वात्मप्रदेशों से चक्षुवान्) हैं ।

अब, आगमरूपी नेत्र से सभी दिखाई देता है, ऐसा विशेषरूप से ज्ञान कराते हैं -

सव्वे आगमसिद्धा अत्था गुणपज्जएहिं चित्तेहिं । (235)
जाणंति आगमेण हि पेच्छित्ता ते वि ते समणा ॥269॥
जिन-आगमों से सिद्ध हो सब **अर्थ** गुण-पर्यय सहित ।
जिन-आगमों से ही श्रमण जानकर साधें स्वहित ॥२३५॥

अन्वयार्थ : [सर्वे अर्था:] समस्त पदार्थ [चित्रै: गुणपर्यायै:] विचित्र (अनेक प्रकार की) गुणपर्यायों सहित [आगमसिद्धा:] आगमसिद्ध हैं । [तान्] अपि उन्हें भी [ते श्रमणा:] वे श्रमण [आगमेन हि दृष्ट्वा] आगम द्वारा वास्तव में देखकर [जानन्ति] जानते हैं ।

दर्शन-रहित के संयतपना नहीं

आगमपुव्वा दिट्ठी ण भवदि जस्सेह संजमो तस्स । (236)
णत्थीदि भणदि सुत्तं असंजदो होदि किध समणो ॥270॥
जिनागम अनुसार जिनकी दृष्टि न वे असंयमी ।
यह जिनागम का कथन है वे श्रमण कैसे हो सकें ॥२३६॥

अन्वयार्थ : [इह] इस लोक में [यस्य] जिसकी [आगमपूर्वा दृष्टि:] आगमपूर्वक दृष्टि (दर्शन) [न भवति] नहीं है [तस्य] उसके [संयम:] संयम [नास्ति] नहीं है, [इति] इस प्रकार [सूत्रं भणति] सूत्र कहता है; और [असंयत:] असंयत वह [श्रमण:] श्रमण [कथं भवति] कैसे हो सकता है?

अब आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान, संयतत्व की युगपतता का अभाव होने पर मोक्ष नहीं है, ऐसी व्यवस्था बताते हैं -

ण हि आगमेण सिज्झदि सद्दहणं जदि वि णत्थि अत्थेसु । (237)
सद्दहमाणो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वादि ॥271॥
जिनागम से **अर्थ** का श्रद्धान ना सिद्धि नहीं ।
श्रद्धान हो पर असंयत निर्वाण को पता नहीं ॥२३७॥

अन्वयार्थ : [आगमेन] आगम से, [यदि अपि] यदि [अर्थेषु श्रद्धानं नास्ति] पदार्थों का श्रद्धान न हो तो, [न हि सिद्धति] सिद्धि (मुक्ति) नहीं होती; [अर्थान् श्रद्धधानः] पदार्थों का श्रद्धान करने वाला भी [असंयत: वा] यदि असंयत हो तो [न निर्वाति] निर्वाण को प्राप्त नहीं होता ।

आत्मज्ञानी ही मोक्षमार्गी

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं । (238)
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण ॥272॥
विज्ञ तीनों गुप्ति से क्षय करें स्वासोच्छ्वास में ।
ना अज्ञ उतने कर्म नाशे भव हजार करोड़ में ॥२३८॥

अन्वयार्थ : [यत् कर्म] जो कर्म [अज्ञानी] अज्ञानी [भवशतसहस्रकोटिभि:] लक्षकोटि भवों में [क्षपयति] खपाता है, [तत्] वह कर्म [ज्ञानी] ज्ञानी [त्रिभि: गुप्त:] तीन प्रकार (मन-वचन-काय) से गुप्त होने से [उच्छ्वासमात्रेण] उच्छ्वासमात्र में [क्षपयति] खपा देता है ।

अब पहले (२७२ वीं) गाथा में कहे गये आत्मज्ञान से रहित जीव के, सम्पूर्ण आगम का ज्ञान, तत्त्वार्थ-श्रद्धान और संयतत्व की युगपतता भी अकिंचित्कर है, ऐसा उपदेश देते है -

परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादिएसु जस्स पुणो । (239)
विज्जदि जदि सो सिद्धिं ण लहदि सव्वागमधरो वि ॥273॥
देहादि में अणुमात्र मूर्च्छा रहे यदि तो नियम से ।
वह सर्व आगम धर भले हो सिद्धि वह पाता नहीं ॥२३९॥

अन्वयार्थ : [पुन:] और [यदि] यदि [यस्य] जिसके [देहादिकेषु] शरीरादि के प्रति [परमाणुप्रमाणं वा] परमाणुमात्र भी [मूर्च्छा] मूर्च्छा [विद्यते] वर्तती हो तो [सः] वह [सर्वागमधर: अपि] भले ही सर्वागम का धारी हो तथापि [सिद्धिं न लभते] सिद्धि को प्राप्त नहीं होता ।

अब, द्रव्य-भाव संयम का स्वरूप कहते हैं -

चागो य अणारंभो विसयविरागो खओ कसायाणं ।
सो संजमो त्ति भणिदो पव्वज्जाए विसेसेण ॥274॥
अनारंभी त्याग विषयविरक्त और कषायक्षय ।
ही तपोधन संत का सम्पूर्ण: संयम कहा ॥२७४॥

अन्वयार्थ : तपश्चरण दशा में त्याग, अनारम्भ, विषयों से विरक्तता और कषायों का क्षय -- विशेषरूप से वह संयम कहा गया है ।

आत्मज्ञानी संयत

पंचसमिदो तिगुत्तो पंचेंदियसंवुडो जिदकसाओ । (240)
दंसणणाणसमग्गो समणो सो संजदो भणिदो ॥275॥
तीन गुप्ति पाँच समिति सहित पंचेद्रियजयी ।
ज्ञानदर्शन मय श्रमण ही जितकषायी संयमी ॥२४०॥

अन्वयार्थ : [पंचसमिति:] पाँच समितियुक्त, [पंचेन्द्रिय-संवृत:] पांच इन्द्रियों का संवर वाला [त्रिगुप्त:] तीन गुप्ति सहित, [जितकषाय:] कषायों को जीतने वाला, [दर्शनज्ञानसमग्र:] दर्शनज्ञान से परिपूर्ण [श्रमण:] ऐसा जो श्रमण [सः] वह [संयत:] संयत [भणितः] कहा गया है ॥२४०॥

आत्मज्ञानी संयत का लक्षण

समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो । (241)
समलोट्ठकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ॥276॥
कांच-कंचन बन्धु-अरि सुख-दु:ख प्रशंसा-निन्द में ।
शुद्धोपयोगी श्रमण का समभाव जीवन-मरण में ॥२४१॥

अन्वयार्थ : [समशत्रुबन्धुवर्ग:] जिसे शत्रु और बन्धु वर्ग समान है, [समसुखदुःख:] सुख और दुःख समान है, [प्रशंसानिन्दासम:] प्रशंसा और निन्दा के प्रति जिसको समता है, [समलोष्टका चन:] जिसे लोष्ठ (मिट्टी का ढेला) और सुवर्ण समान है, [पुन:] तथा [जीवितमरणेसम:] जीवन-मरण के प्रति जिसको समता है, वह [श्रमण:] श्रमण है ।

युगपत आत्मज्ञान और संयत ही मोक्षमार्ग

दंसणणाणचरित्तेसु तीसु जुगवं समुट्ठिदो जो दु । (242)

एयग्गगदो त्ति मदो सामण्णं तस्स पडिपुण्णं ॥277॥

ज्ञानदर्शन चरण में युगपत सदा आरूढ़ हो ।

एकाग्रता को प्राप्त यति श्रामण्य से परिपूर्ण हैं ॥२४२॥

अन्वयार्थ : [यः तु] जो [दर्शनज्ञानचरित्रेषु] दर्शन, ज्ञान और चारित्र [त्रिषु] इन तीनों में [युगपत्] एक ही साथ [समुत्थित:] आरूढ़ है, वह [ऐकाग्रत:] एकाग्रता को प्राप्त है । [इति] इस प्रकार [मत:] (शास्त्र में) कहा है । [तस्य] उसके [श्रामण्यं] श्रामण्य [परिपूर्णम्] परिपूर्ण है ।

एकाग्रता के अभाव से मोक्ष का अभाव

मुज्झदि वा रज्जदि वा दुस्सदि वा दव्वमण्णमासेज्ज । (243)

जदि समणो अण्णाणी बज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं ॥278॥

अज्ञानि परद्रव्याश्रयी हो मुग्ध राग-द्वेष मय ।

जो श्रमण वह ही बाँधता है विविध विध के कर्म सब ॥२४३॥

अन्वयार्थ : [यदि] यदि [श्रमण:] श्रमण, [अन्यत् द्रव्यम् आसाद्य] अन्य द्रव्य का आश्रय करके [अज्ञानी] अज्ञानी होता हुआ, [मुह्यति वा] मोह करता है, [रज्यति वा] राग करता है, [द्वेष्टि वा] अथवा द्वेष करता है, तो वह [विविधै: कर्मभि:] विविध कर्मों से [बध्यते] बँधता है ।

अब, जो वे अपने शुद्धात्मा में एकाग्र हैं उनका ही मोक्ष होता है; ऐसा उपदेश देते हैं -

अट्ठेसु जो ण मुज्झदि ण हि रज्जदि णेव दोसमुवयादि । (244)

समणो जदि सो णियदं खवेदि कम्माणि विविहाणि ॥279॥

मोहित न हो जो लोक में अर राग-द्वेष नहीं करें ।

वे श्रमण ही नियम से क्षय करें विध-विध कर्म सब ॥२४४॥

अन्वयार्थ : [यदि यः श्रमण:] यदि श्रमण [अर्थेषु] पदार्थों में [न मुह्यति] मोह नहीं करता, [न हि रज्यति] राग नहीं करता, [न एव द्वेषम् उपयाति] और न द्वेष को प्राप्त होता है [सः] तो वह [नियतं] नियम से [विविधानि कर्माणि] विविध कर्मों को [क्षपयति] खपाता है ।

लौकिक संसर्ग का निषेध

णिच्छिदसुत्तत्थपदो समिदकसाओ तवोधिगो चावि । (268)

लोगिगजणसंसग्गं ण चयदि जदि संजदो ण हवदि ॥280॥

सूत्रार्थविद जितकषायी और तपस्वी हैं किन्तु यदि।

लौकिकजनों की संगति न तजे तो संयत नहीं ॥२६८॥

अन्वयार्थ : [निश्चितसूत्रार्थपद:] जिसने सूत्रों और अर्थों के पद को—अधिष्ठान को (अर्थात् ज्ञातृतत्त्व को) निश्चित किया है, [समितकषाय:] जिसने कषायों का शमन किया है, [च] और [तपोऽधिक: अपि] जो अधिक तपवान् है ऐसा जीव भी [यदि] यदि [लौकिकजनससर्गं] लौकिकजनों के संसर्ग को [न त्यजति] नहीं छोड़ता, [संयत: न भवति] तो वह संयत नहीं है ।

लौकिक का लक्षण

णिग्गंथं पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगेहिं कम्मेहिं । (269)
सो लोगिगो त्ति भणिदो संजमतवसंपजुत्तो वि ॥281॥
निर्ग्रंथ हों तपयुक्त संयुक्त हों पर व्यस्त हो ।
इहलोक के व्यवहार में तो उन्हें लौकिक ही कहा ॥२६९॥

अन्वयार्थ : [नैर्ग्रन्थ्यं प्रव्रजित:] जो (जीव) निर्ग्रंथरूप से दीक्षित होने के कारण [संयमतप: संप्रयुक्त: अपि] संयम-तप-संयुक्त हो उसे भी, [यदि सः] यदि वह [ऐहिकै कर्मभि: वर्तते] ऐहिक कार्यों सहित वर्तता हो तो, [लौकिक: इति भणित:] लौकिक कहा गया है ।

उत्तम संसर्ग का उपदेश

तम्हा समं गुणादो समणो समणं गुणेहिं वा अहियं । (270)
अधिवसदु तम्हि णिच्चं इच्छदि जदि दुक्खपरिमोक्खं ॥282॥
यदि चाहते हो मुक्त होना दुखों से तो जान लो ।
गुणाधिक या समान गुण से युक्त की संगति करो ॥२७०॥

अन्वयार्थ : [तस्मात्] (लौकिकजन के संग से संयत भी असंयत होता है) इसलिये [यदि] यदि [श्रमण:] श्रमण [दुःखपरिमोक्षम् इच्छति] दुःख से परिमुक्त होना चाहता हो तो वह [गुणात्समं] समान गुणों वाले श्रमण के [वा] अथवा [गुणै: अधिकं श्रमणं तत्र] अधिक गुणों वाले श्रमण के संग में [नित्यम्] सदा [अधिवसतु] निवास करो ।

लौकिक संसर्ग कथंचित् अनिषिद्ध

वेज्जवच्चणिमित्तं गिलाणगुरुबालवुड्ढसमणाणं । (253)
लोगिगजणसंभासा ण णिंदिदा वा सुहोवजुदा ॥283॥
ग्लान गुरु अर वृद्ध बालक श्रमण सेवा निमित्त से ।
निंदित नहीं शुभभावमय संवाद लौकिकजनों से ॥२५३॥

अन्वयार्थ : [वा] और [ग्लानगुरुबालवृद्धश्रमणानाम्] रोगी, गुरु (पूज्य, बड़े), बाल तथा वृद्ध श्रमणों की [वैयावृत्यनिमित्तं] सेवा के निमित्त से, [शुभोपयुता] शुभोपयोगयुक्त [लौकिकजनसंभाषा] लौकिक जनों के साथ की बातचीत [न निन्दिता] निन्दित नहीं है ।

शुभोपयोग मुनियों के गौण और श्रावकों को मुख्य

एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुणो घरत्थाणं । (254)
चरिया परे त्ति भणिदा ताएव परं लहदि सोक्खं ॥284॥
प्रशस्त चर्या श्रमण के हो गौण किन्तु गृहीजन ।
के मुख्य होती है सदा अर वे उसी से सुखी हों ॥२५४॥

अन्वयार्थ : [एषा] यह [प्रशस्तभूता] प्रशस्तभूत [चर्या] चर्या [श्रमणानां] श्रमणों के (गौण) होती है [वा गृहस्थानां पुन:] और गृहस्थों के तो [परा] मुख्य होती है, [इति भणिता] ऐसा (शास्त्रों में) कहा है; [तया एव] उसी से [परं सौख्य लभते] (परम्परा से) गृहस्थ परम सौख्य को प्राप्त होता है ।

शुभोपयोगियों की श्रमणरूप में गौणता

समणा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता य होंति समयम्हि । (245)
तेसु वि सुद्धुवजुत्ता अणासवा सासवा सेसा ॥285॥
शुद्धोपयोगी श्रमण हैं शुभोपयोगी भी श्रमण ।
शुद्धोपयोगी निरास्रव हैं आस्रवी हैं शेष सब ॥२४५॥

अन्वयार्थ : [समये] शास्त्र में (ऐसा कहा है कि), [शुद्धोपयुक्ताः श्रमणाः] शुद्धोपयोगी वे श्रमण हैं, [शुभोपयुक्ताः च भवन्ति] शुभोपयोगी

भी श्रमण होते हैं; [तेषु अपि] उनमें भी [शुद्धोपयुक्ताः अनास्रवाः] शुद्धोपयोगी निरास्रव हैं, [शेषाः सास्रवाः] शेष सास्रव हैं, (अर्थात् शुभोपयोगी आस्रव सहित हैं ।) ॥२४५॥

शुभोपयोगी श्रमण

अरहंतादिसु भत्ती वच्छलदा पवयणाभिजुत्तेसु । (246)
विज्जदि जदि सामण्णे सा सुहजुत्ता भवे चरिया ॥286॥
वात्सल्य प्रवचनरतों में अर भक्ति अर्हत् आदि में ।
बस यही चर्या श्रमण जन की कही शुभ उपयोग है ॥२४६॥
अन्वयार्थ : [श्रामण्ये] श्रामण्य में [यदि] यदि [अर्हदादिषु भक्ति:] अर्हन्तादि के प्रति भक्ति तथा [प्रवचनाभियुक्तेषु वत्सलता] प्रवचनरत जीवों के प्रति वात्सल्य [विद्यते] पाया जाता है तो [सा] वह [शुभयुक्ता चर्या] शुभयुक्त चर्या (शुभोपयोगी चारित्र) [भवेत्] है ।

प्रवृत्ति शुभोपयोगियो के ही है

दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं । (248) ।
चरिया हि सरागाणं जिणिंदपूजोवदेसो य ॥287॥
उपदेश दर्शन-ज्ञान-पूजन शिष्यजन का परिग्रहण ।
और पोषण ये सभी हैं रागियों के आचरण ॥२४८॥
अन्वयार्थ : [दर्शनज्ञानोपदेश:] दर्शनज्ञान का (सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का) उपदेश, [शिष्यग्रहणं] शिष्यों का ग्रहण, [च] तथा [तेषाम् पोषणं] उनका पोषण, [च] और [जिनेन्द्रपूजोपदेश:] जिनेन्द्र की पूजा का उपदेश [हि] वास्तव में [सरागाणांचर्या] सरागियों की चर्या है ।
उवकुणदि जो वि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स (249) ।
कायविराधणरहिदं सो वि सरागप्पधाणो से ॥288॥
तनविराधन रहित कोई श्रमण पर उपकार में ।
नित लगा हो तो जानना है राग की ही मुख्यता ॥२४९॥
अन्वयार्थ : [यः अपि] जो कोई (श्रमण) [नित्यं] सदा [कायविराधनरहितं](छह) काय की विराधना से रहित [चातुर्वर्णस्य] चार प्रकार के [श्रमणसंघस्य] श्रमण संघ का [उपकरोति] उपकार करता है, [सः अपि] वह भी [सरागप्रधानः स्यात्] राग की प्रधानतावाला है ।

वैयावृत्ति संयम की विराधना-रहित होकर करें

जदि कुणदि कायखेदं वेज्जावच्चत्थमुज्जदो समणो । (250) ।
ण हवदि हवदि अगारी धम्मो सो सावयाणं से ॥289॥
जो श्रमण वैयावृत्ति में छहकाय को पीड़ित करें ।
वे गृही ही हैं क्योंकि यह तो श्रावकों का धर्म है ॥२५०॥
अन्वयार्थ : [यदि] यदि (श्रमण) [वैयावृत्यर्थम् उद्यत:] वैयावृत्ति के लिये उद्यमी वर्तता हुआ [कायखेदं] छह काय को पीड़ित [करोति] करता है तो वह [श्रमण: न भवति] श्रमण नहीं है, [अगारी भवति] गृहस्थ है; (क्योंकि) [सः] वह (छह काय की विराधना सहित वैयावृत्ति) [श्रावकाणां धर्म: स्यात्] श्रावकों का धर्म है ।

प्रवृत्ति में विशेषता

जोण्हाणं णिरवेक्खं सागारणगारचरियजुत्ताणं । (251) ।
अणुकंपयोवयारं कुव्वदु लेवो जदि वि अप्पो ॥290॥
दया से सेवा सदा जो श्रमण-श्रावकजनों की ।
करे वह भी अल्पलेपी कहा है जिनमार्ग में ॥२५१॥

अन्वयार्थ : [यद्यपि अल्प: लेप:] यद्यपि अल्प लेप होता है तथापि [साकारनाकारचर्यायुक्तानाम्] साकार-अनाकार चर्यायुक्त [जैनानां] जैनों का [अनुकम्पया] अनुकम्पा से [निरपेक्षं] निरपेक्षतया [उपकार करोतु] (शुभोपयोग से) उपकार करो ।

अनुकम्पा का लक्षण

तिसिदं बुभुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो हि दुहिदमणो ।
पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकंपा ॥291॥
भूखे-प्यासे दुखी लख दुखित मन से जो पुरुष ।
दया से हो द्रवित बस वह भाव अनुकंपा कहा ॥२९१॥
अन्वयार्थ : तृषातुर (प्यासे), क्षुधातुर (भूखे) अथवा दुखित को देखकर, दुखित मनवाला जो, वास्तव में उसे दया परिणाम से स्वीकार करता है, उसका वह (भाव) अनुकम्पा है ।

प्रवृत्ति का काल

रोगेण वा छुधाए तण्हाए वा समेण वा रूढं । (252)
दिट्ठा समणं साहू पडिवज्जदु आदसत्तीए ॥292॥
श्रम रोग भूखरु प्यास से आक्रांत हैं जो श्रमणों ।
उन्हें देखकर शक्ति के अनुसार वैयावृत करो ॥२५२॥
अन्वयार्थ : [रोगेण वा] रोग से, [क्षुधया] क्षुधा से, [तृष्णया वा] तृषा से [श्रमेण वा] अथवा श्रम से [रूढ़म्] आक्रांत [श्रमणं] श्रमण को [दृट्वा] देखकर [साधु:] साधु [आत्मशक्त्या] अपनी शक्ति के अनुसार [प्रतिपद्यताम्] वैयावृत्यादि करो ।

पात्र-विशेष से वही शुभोपयोग में फल-विशेषता

रागो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं । (255)
णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि ॥293॥
एकविध का बीज विध-विध भूमि के संयोग से ।
विपरीत फल शुभभाव दे बस पात्र के संयोग से ॥२५५॥
अन्वयार्थ : [इह नानाभूमिगतानि बीजानि इव] जैसे इस जगत में अनेक प्रकार की भूमियों में पड़े हुए बीज [सस्यकाले] धान्यकाल में विपरीतरूप से फलते हैं, उसी प्रकार [प्रशस्तभूतः राग:] प्रशस्तभूत राग [वस्तुविशेषेण] वस्तु-भेद से (पात्र भेद से) [विपरीतं फलति] विपरीतरूप से फलता है ।

कारण-विपरीतता से फल-विपरीतता

छदुमत्थविहिदवत्थुसु वदणियमज्झयणझाणदाणरदो । (256)
ण लहदि अपुणब्भावं भावं सादप्पगं लहदि ॥294॥
अज्ञानियों से मान्य व्रत-तप देव-गुरु-धर्मादि में ।
रत जीव बाँधे पुण्यहीन रु मोक्ष पद को ना लहें ॥२५६॥
अन्वयार्थ : [छद्मस्थविहितवस्तुषु] जो जीव छद्मस्थविहित वस्तुओं में (छद्मस्थ-अज्ञानी के द्वारा कथित देव-गुरु-धर्मादि में) [व्रतनियमाध्ययनध्यानदानरत:] व्रत-नियम-अध्ययन-ध्यान-दान में रत होता है वह जीव [अपुनर्भावं] मोक्ष को [न लभते] प्राप्त नहीं होता, (किन्तु) [सातात्मकं भावं] सातात्मक भाव को [लभते] प्राप्त होता है ।
अविदिदपरमत्थेसु य विसयकसायाधिगेसु पुरिसेसु । (257)
जुट्ठं कदं व दत्तं फलदि कुदेवेसु मणुवेसु ॥295॥
जाना नहीं परमार्थ अर रत रहें विषय-कषाय में ।

उपकार सेवादान दें तो जाय कुनर-कुदेव में ॥२५७॥

अन्वयार्थ : [अविदितपरमार्थेषु] जिन्होंने परमार्थ को नहीं जाना है, [च] और [विषयकषायाधिकेषु] जो विषय-कषाय में अधिक हैं, [पुरुषेषु] ऐसे पुरुषों के प्रति [जुष्टं कृतं वा दत्तं] सेवा, उपकार या दान [कुदेवेषु मनुजेषु] कुदेवरूप में और कुमनुष्यरूप में [फलति] फलता है ।

जदि ते विसयकसाया पाव त्ति परूविदा व सत्थेसु । (258)

किह ते तप्पडिबद्धा पुरिसा णित्थारगा होंति ॥296॥

शास्त्र में ऐसा कहा कि पाप विषय-कषाय हैं ।

जो पुरुष उनमें लीन वे कल्याणकारक किस तरह ॥२५८॥

अन्वयार्थ : [यदि वा] जबकि [ते विषयकषाया:] वे विषयकषाय [पापम्] पाप हैं [इति] इस प्रकार [शास्त्रेषु] शास्त्रों में [प्ररूपिता:] प्ररूपित किया गया है, तो [तवतिबद्धा:] उनमें प्रतिबद्ध (विषय-कषायों में लीन) [ते पुरुषा:] वे पुरुष [निस्तारका:] निस्तारक (पार लगाने वाले) [कथं भवन्ति] कैसे हो सकते हैं?

पात्रभूत मुनि का लक्षण

उवरदपावो पुरिसो समभावो धम्मिगेसु सव्वेसु । (259)

गुणसमिदिदोवसेवी हवदि स भागी सुमग्गस्स ॥297॥

समभाव धार्मिक जनों में निष्पाप अर गुणवान हैं ।

सन्मार्गगामी वे श्रमण परमार्थ मग में मगन हैं ॥२५९॥

अन्वयार्थ : [उपरतपाप:] जिसके पाप रुक गया है, [सर्वेषु धार्मिकेषु समभाव:] जो सभी धार्मिकों के प्रति समभाववान् है और [गुणसमितितोपसेवी] जो गुणसमुदाय का सेवन करने वाला है, [सः पुरुष:] वह पुरुष [सुमार्गस्य] सुमार्ग का [भागी भवति] भागी होता है । (अर्थात् सुमार्गवान् है) ।

असुभोवयोगरहिदा सुद्धवजुत्ता सुहोवजुत्ता वा । (260)

णित्थारयंति लोगं तेसु पसत्थं लहदि भत्तो ॥298॥

शुद्ध अथवा शुभ सहित अर अशुभ से जो रहित हैं ।

वे तार देते लोक उनकी भक्ति से पुणबंध हो ॥२६०॥

अन्वयार्थ : [अशुभोपयोगरहिता:] जो अशुभोपयोगरहित वर्तते हुए [शुद्धोपयुक्ता:] शुद्धोपयुक्त [वा] अथवा [शुभोपयुक्ता:] शुभोपयुक्त होते हैं, वे (श्रमण) [लोकं निस्तारयन्ति] लोगों को तार देते हैं; (और) [तेषु भक्त:] उनके प्रति भक्तिवान जीव [प्रशस्तं] प्रशस्त (पुण्य) को [लभते] प्राप्त करता है ।

सामान्य विनय तथा उसके बाद विशेष विनय व्यवहार

दिट्ठा पगदं वत्थु अब्भुट्ठाणप्पधाणकिरियाहिं । (261)

वट्ठदु तदो गुणादो विसेसिदव्वो त्ति उवदेसो ॥299॥

जब दिखें मुनिराज पहले विनय से वर्तन करो ।

भेद करना गुणों से पश्चात् यह उपदेश है ॥२६१॥

अन्वयार्थ : [प्रकृत वस्तु] प्रकृत वस्तु को [दृट्वा] देखकर (प्रथम तो) [अभ्युत्थानप्रधानक्रियाभि:] अभ्युत्थान आदि क्रियाओं से [वर्तताम्] (श्रमण) वर्तो; [ततः] फिर [गुणात्] गुणानुसार [विशेषितव्य:] भेद करना,—[इति उपदेश:] ऐसा उपदेश है ।

अब्भुट्ठाणं गहणं उवासणं पोसणं च सक्कारं । (262)

अंजलिकरणं पणमं भणिदमिह गुणाधिगाणं हि ॥300॥

गुणाधिक में खड़े होकर अंजलि को बाँधकर ।

ग्रहण-पोषण-उपासन-सत्कार कर करना नमन ॥२६२॥

अन्वयार्थ : [गुणाधिकाना हि] गुणों में अधिक (श्रमणों) के प्रति [अभ्युत्थानं] अभ्युत्थान, [ग्रहणं] ग्रहण (आदर से स्वीकार), [उपासनं] उपासन (सेवा), [पोषणं] पोषण (उनके अशन, शयनादि की चिन्ता), [सत्कार:] सत्कार (गुणों की प्रशंसा), [अञ्जलिकरणं] अंजलि करना (विनयपूर्वक हाथ जोड़ना) [च] और [प्रणाम:] प्रणाम करना [इह] यहाँ [भणितम्] कहा है ।

श्रमणभासों के प्रति समस्त प्रवृत्तियों का निषेध

अब्भुट्ठेया समणा सुत्तत्थविसारदा उवासेया । (263)
संजमतवणाणड्ढा पणिवदणीया हि समणेहिं ॥301॥
विशारद सूत्रार्थ संयम-ज्ञान-तप में आढ्य हों ।
उन श्रमण जन को श्रमण जन अति विनय से प्रणमन करें ॥२६३॥

अन्वयार्थ : [श्रमणै: हि] श्रमणों के द्वारा [सूत्रार्थविशारदा:] सूत्रार्थविशारद (सूत्रों के और सूत्रकथित पदार्थों के ज्ञान में निपुण) तथा [संयमतपोज्ञानाढ:] संयम, तप और (आत्म) ज्ञान में समृद्ध [श्रमण:] श्रमण [अभ्युत्थेया: उपासेया: प्रणिपतनीया:] अभ्युत्थान, उपासना और प्रणाम करने योग्य हैं ।

शुभोपयोगियों की शुभप्रवृत्ति

वंदणणमंसणेहिं अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती । (247)
समणेसु समावणओ ण णिंदिदा रागचरियम्हि ॥302॥
श्रमण के प्रति बंदन नमन एवं अनुगमन ।
विनय श्रमपरिहार निन्दित नहीं हैं जिनमार्ग में ॥२४७॥

अन्वयार्थ : [श्रमणेषु] श्रमणों के प्रति [वन्दननमस्करणाभ्यां] वन्दन-नमस्कार सहित [अभ्युत्थानानुगमनप्रतिपत्ति:] अभ्युत्थान और अनुगमनरूप विनीत प्रवृत्ति करना तथा [श्रमापनय:] उनका श्रम दूर करना वह [रागचर्यायाम्] रागचर्या में [न निन्दिता] निन्दित नहीं है ॥२४७॥

श्रमणाभास

ण हवदि समणो त्ति मदो संजमतवसुत्तसंपजुत्तो वि । (264)
जदि सद्दहदि ण अत्थे आदपधाणे जिणक्खादे ॥303॥
सूत्र संयम और तप से युक्त हों पर जिनकथित ।
तत्त्वार्थ को ना श्रद्धहैं तो श्रमण ना जिनवर कहें ॥२६४॥

अन्वयार्थ : [संयमतप:सूत्रसंप्रयुक्त: अपि] सूत्र, संयम और तप से संयुक्त होने पर भी [यदि] यदि (वह जीव) [जिनाख्यातान्] जिनोक्त [आत्मप्रधानान्] आत्मप्रधान [अर्थान्] पदार्थों का [न श्रद्धत्ते] श्रद्धान नहीं करता तो वह [श्रमण: न भवति] श्रमण नहीं है,—[इति मत:] ऐसा (आगम में) कहा है ।

मोक्षमार्गी पर दोष लगाने में दोष

अववददि सासणत्थं समणं दिट्ठा पदोसदो जो हि । (265)
किरियासु णाणुमण्णदि हवदि हि सो णट्ठचारित्तो ॥304॥
जो श्रमणजन को देखकर विद्वेष से वर्तन करें ।
अपवाद उनका करें तो चारित्र उनका नष्ट हो ॥२६५॥

अन्वयार्थ : [यः हि] जो [शासनस्थ श्रमणं] शासनस्थ (जिनदेव के शासन में स्थित) श्रमण को [दृष्ट्वा] देखकर [प्रद्वेषत:] द्वेष से [अपवदति] उसका अपवाद करता है और [क्रियासु न अनुमन्यते] (सत्कारादि) क्रियाओं से करने में अनुमत (पसन्न) नहीं है [सः

नष्टचारित्र: हि भवति] उसका चारित्र नष्ट होता है ॥२६५॥

अधिक गुणवा्लों से विनय चाहने से गुणों का विनाश

गुणदोधिगस्स विणयं पडिच्छगो जो वि होमि समणो त्ति । (266)
होज्जं गुणाधरो जदि सो होदि अणंतसंसारी ॥305॥
स्वयं गुण से हीन हों पर जो गुणों से अधिक हों ।
चाहे उनसे नमन तो फिर अनंतसंसारी हैं वे ॥२६६॥

अन्वयार्थ : [यः] जो श्रमण [यदि गुणाधर: भवन्] गुणों में हीन होने पर भी [अपि श्रमण: भवामि] मैं भी श्रमण हूँ, [इति] ऐसा मानकर अर्थात् गर्व करके [गुणत: अधिकस्य] गुणों में अधिक (ऐसे श्रमण) के पास से [विनयं प्रत्येषक:] विनय (करवाना) चाहता है [सः] वह [अनन्तसंसारी भवति] अनन्तसंसारी होता है ॥२६६॥

हीन गुणवालों के साथ वर्तने से गुणों का विनाश

अधिगगुणा सामण्णे वट्टंति गुणाधरेहिं किरियासु । (267)
जदि ते मिच्छुवजुत्ता हवंति पब्भट्ठचारित्ता ॥306॥
जो स्वयं गुणवान हों पर हीन को बंदन करें ।
दृगमोह में उपयुक्त वे चारित्र से भी भ्रष्ट हैं ॥२६७॥

अन्वयार्थ : [यदि श्रामण्ये अधिकगुणा:] जो श्रामण्य में अधिक गुण वाले हैं, तथापि [गुणाधरै:] हीन गुण वालों के प्रति [क्रियासु] (वंदनादि) क्रियाओं में [वर्तन्ते] वर्तते हैं, [ते] वे [मिथ्योपयुक्ता:] मिथ्या उपयुक्त होते हुए [प्रभ्रष्टचारित्रा: भवन्ति] चारित्र से भ्रष्ट होते हैं ॥ २६७॥

संसार-स्वरूप

जे अजधागहिदत्था एदे तच्च त्ति णिच्छिदा समये । (271)
अच्चंतफलसमिद्धं भमंति ते तो परं कालं ॥307॥
अयथार्थग्राही तत्त्व के हों भले ही जिनमार्ग में ।
कर्मफल से आभरित भवभ्रमे भावीकाल में ॥२७१॥

अन्वयार्थ : [ये] जो [समये] भले ही समय में हों (भले ही वे द्रव्यलिंगी के रूप में जिनमत में हों) तथापि वे [एते तत्त्वम्] यह तत्त्व है (वस्तुस्वरूप ऐसा ही है) [इति निश्चिता:] इस प्रकार निश्चयवान वर्तते हुए [अयथागृहीतार्था:] पदार्थों को अयथार्थरूप से ग्रहण करते हैं (जैसे नहीं हैं वैसा समझते हैं), [ते] वे [अत्यन्तफलसमृद्धम्] अत्यन्तफलसमृद्ध (अनन्त कर्मफलों से भरे हुए) ऐसे [अत: परं कालं] अब से आगामी काल में [भ्रमन्ति] परिभ्रमण करेंगे ।

मोक्ष का स्वरूप

अजधाचारविजुत्तो जधत्थपदणिच्छिदो पसंतप्पा । (272)
अफले चिरं ण जीवदि इह सो संपुण्णसामण्णो ॥308॥
यथार्थग्राही तत्त्व के अर रहित अयथाचार से ।
प्रशान्तात्मा श्रमण वे न भवभ्रमे चिरकाल तक ॥२७२॥

अन्वयार्थ : [यथार्थपदनिश्चित:] जो जीव यथार्थतया पदों का तथा अर्थों (पदार्थों) का निश्चय वाला होने से [प्रशान्तात्मा] प्रशान्तात्मा है और [अयथाचारवियुक्त:] अयथाचार (अन्यथाआचरण, अयथार्थआचरण) रहित है, [सः संपूर्णश्रामण्य:] वह संपूर्ण श्रामण्य वाला जीव [अफले] अफल (कर्मफल रहित हुए) [इह] इस संसार में [चिर न जीवति] चिरकाल तक नहीं रहता (अल्पकाल में ही मुक्त होता है ।)

मोक्ष का कारण

सम्मं विदिदपदत्था चत्ता उवहिं बहित्थमज्झत्थं । (273)

विसयेसु णावसत्ता जे ते सुद्धा त्ति णिदिट्ठा ॥309॥

यथार्थ जाने **अर्थ** दो विध परिग्रह को छोड़कर ।

ना विषय में आसक्त वे ही श्रमण शुद्ध कहे गये ॥२७३॥

अन्वयार्थ : [सम्यग्विदितपदार्थाः] सम्यक् (यथार्थतया) पदार्थों को जानते हुए [ये] जो [बहिस्थमध्यस्थम्] बहिरंग तथा अंतरंग [उपधिं] परिग्रह को [त्यक्त्वा] छोड़कर [विषयेषु न अवसक्ताः] विषयों में आसक्त नहीं हैं, [ते] वे [शुद्धाः इति निर्दिष्टाः] शुद्ध कहे गये हैं ।

मोक्षमार्ग

सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं । (274)

सुद्धस्स य णिव्वाणं सो च्चिय सिद्धो णमो तस्स ॥310॥

है ज्ञान-दर्शन शुद्धता निज शुद्धता श्रामण्य है ।

हो शुद्ध को निर्वाण शत-शत बार उनको नमन है॥२७४॥

अन्वयार्थ : [शुद्धस्य च] शुद्ध (शुद्धोपयोगी) को [श्रामण्यं भणितं] श्रामण्य कहा है, [शुद्धस्य च] और शुद्ध को [दर्शनं ज्ञानं] दर्शन तथा ज्ञान कहा है, [शुद्धस्य च] शुद्ध के [निर्वाणं] निर्वाण होता है; [सः एव] वही (शुद्ध ही) [सिद्धः] सिद्ध होता है; [तस्यै नमः] उसे नमस्कार हो ।

शास्त्र का फल और समाप्ति

बुज्झदि सासणमेयं सागारणगारचरियया जुत्तो । (275)

जो सो पवयणसारं लहुणा कालेण पप्पोदि ॥311॥

जो श्रमण-श्रावक जानते जिनवचन के इस सार को ।

वे प्राप्त करते शीघ्र ही निज-आत्मा के सार को ॥२७५॥

अन्वयार्थ : [यः] जो [साकारानाकारचर्यया युक्तः] साकार-अनाकार चर्या से युक्त वर्तता हुआ (एतत् शासनं) इस उपदेश को [बुध्यते] जानता है, [सः] वह [लघुना कालेन] अल्प काल में ही [प्रवचनसारं] प्रवचन के सार को (भगवान आत्मा को) [प्राप्नोति] पाता है ।

परिशिष्ट

परिशिष्ट